शांतिपूर्ण युक्ति ने उन भयंकर और कड़वी जातीय व राष्ट्रीय घृणाओं को बढ़ने से रोका, जो तब तक ऐसे संघर्षों में सदा दिखाई देती रही थीं और इस प्रकार अंतिम समझौते का मार्ग सरल बन गया।

इसलिये आश्चर्य नहीं कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने महात्मा गाँधी के दिव्य व्यक्तित्व से आलोकित होकर देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसे आशा से भर दिया। यह आशा बढ़ी और उसके साथ-ही-साथ हमारा पुराना नैतिक पतन समाप्त हो गया। नई कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपनी ओर खींचा और दिन-पर-दिन उनकी शक्ति और मर्यादा बढ़ती गई।

एक मुस्लिम सभा

१६२० में राजनैतिक और खिलाफत आंदोलन साथ-साथ चलते रहे। दोनों की एक दिशा थी और अंत में जब कांग्रेस ने गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग को अपनाया तो दोनों एक में मिल गये। असहयोग के कार्यक्रम को पहले खिलाफत कमेटी ने ही अपनाया और उसके श्रीगणेश के लिये पहली अगस्त निश्चित की गई।

उसी वर्ष कुछ पहले-इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिये इलाहाबाद में एक मुस्लिम सभा हुई थी (मैं समझता हूँ कि वह मुस्लिम लीग की कौंसिल थी)। बैठक सैयद रजाअली के

बापू के समीप

संकलयिता

आचार्य श्रीरामलोचनशरण

पुस्तक-भंडार, पटना

घर पर हुई। मौलाना मुहम्मदअली उस समय भी यूरोप में थे, किन्तु मौलाना शौकतअली बैठक में मौजूद थे। मुझे उस बैठक की याद है, क्योंकि उससे मुझे पूरी-पूरी निराशा हुई थी। मौलाना शौकतअली में तो उत्साह था, किन्तु करीब-करीब और सब लोग बड़े ही दुःखी और परेशान थे। उनमें असहमत होने का तो साहस ही नहीं था फिर भी यह साफ मालूम होता था कि वे कोई काम जल्दबाजी में नहीं करना चाहते। मैंने सोचा कि क्या ये ही वे लोग हैं जो क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे? गांधीजी ने उनके बीच भाषण दिया और उनकी बातें सुनने के बाद सभा में भाग लेनेवाले पहले से भी अधिक भयभीत दिखाई देने लगे। अपने आदेशात्मक स्वर में गांधीजी खूब अच्छी तरह बोले। वह विनीत किन्तु हीरे की तरह साफ और कठोर थे। उनकी बातें मीठी किन्तु दृढ़ और हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकली हुई थीं। उनकी आँखें नम्र और गहरी थीं, फिर भी उनमें गजब की शक्ति और संकल्प की चमक थी।

उन्होंने चेतावनी दी कि यह लड़ाई एक अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु से लड़ी जानेवाली बहुत बड़ी लड़ाई होगी, अगर आप इसे लड़ना चाहते हैं तो आपको सब कुछ खोने और साथ ही कड़ी-से-कड़ी अहिंसा और अनुशासन का पालन करने के लिये तैयार रहना चाहिये। उन्होंने यह भी बताया कि जिस तरह युद्ध की घोषणा होने पर फौजी कानून जारी किया

होना चाहिये। इस अध्यात्म की शुद्धता-अशुद्धता पर विवाद हो सकता है, किंतु वह सभी बातों को—विशेषतः अपने को—एक ही आधारभूत मापदंड से नापने पर जोर देते हैं। इसके फलस्वरूप साधारण व्यक्ति के लिये राजनीति और जीवन के अन्य क्षेत्रों में कठिनाई और अकसर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किंतु कठिनाइयाँ उन्हें अपने चुने हुए सीधे मार्ग पर चलने से विचलित नहीं करतीं, यद्यपि कुछ सीमा तक वह अपने को सदा परिवर्तनशील परिस्थिति के अनुकूल बनाते रहते हैं। वह दूसरों को जो कुछ भी सुधार बताते हैं या वह दूसरों को जो कुछ भी सलाह देते हैं उसका फौरन अपनेआप पर प्रयोग करते हैं। वह सदा अपने से ही आरम्भ करते हैं और उनके वचन और कर्म सदा एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं। यही कारण है कि कभी उनकी समग्रता नष्ट नहीं होती और उनके जीवन तथा कार्य में सदा अभिन्नता रहती है। अपनी असफलताओं तक में वह उन्नति की ही ओर बढ़ते दिखाई देते हैं।

जिस भारत को वह अपनी इच्छा और आदर्श के अनुकूल बनाना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में उनकी भावनाएँ क्या हैं? उन्होंने कहा है—"मैं एक ऐसे भारत के लिये प्रयत्न करना चाहता हूँ, जिसमें निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति भी यह अनुभव कर सकेंगे कि यह उनका अपना देश है, जिसके निर्माण में उनकी भी सुनी जायगी, जिसमें ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं होगा,

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

—:o:—

जो कुछ अच्छा मिले उसे ग्रहण कर लो और अधिक के लिये संग्राम करो।" ऊपर के श्लोक में गांधीजी दूसरे 'शठं" के स्थान पर 'हठं' रखना चाहते थे। अर्थात् सत्याग्रह; 'शठ' नहीं, जो सदा फलदायक नहीं होता और यदि होता भी है, तो स्थायी रूप में नहीं। जब मैंने श्रीमती वेसेंट से लोकमान्य तिलक की नीति का जिक्र किया, तब उन्होंने कहा—"किन्तु, यह बहुत अनुचित है; वह लोगों को सशस्त्र विद्रोह के लिये उत्तेजित कर रहे हैं; या कम-से-कम वह बहुत ही कर्कश रूप में स्पष्टवादी हैं।" मैंने उत्तर दिया—"लोकमान्य नहीं, बल्कि सरकार ही लोगों को अपनः नीति के कारण शस्त्र-ग्रहण करने के लिये मजबूर कर रही है। तिलक की कर्कश स्पष्ट-वादिता यही है कि वह अंगरेज राज नीतिज्ञों की तरह कूटनीतिज्ञ नहीं हैं। वे गुप्त रूप से वही का करते हैं, जिसे करने की सलाह लोकमान्य स्पष्ट रूप में देते हैं। जब सरकार अपनी दुरंगी नीति—एक ओर शासन-सुधार और दूसरी ओर दमन की घोषणा करती है, तब लोकमान्य भी जनता को सरकार के प्रति एक ओर 'आनुगत्य और सहयोग' और दूसरी ओर 'विद्रोह और असहयोग' करने की स्पष्ट रूप से सलाह देते हैं।......" उन्होंने मेरी युक्ति को सारवत्ता को मान लिया और चुप रह गईं।

इसके बाद सन् १९२० के नवम्बर में मैंने महात्माजी को देखा था। वह अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्रों को असहयोग करने के लिये कह रहे थे। मैं छात्रों के असहयोग

साथ जेल भेज दिया गया। मुझे एक साल की सज़ा मिली थी, किन्तु पाँच महीनों के बाद ही सन् १६२१ के जनवरी में मुझे जेल से बाहर कर दिया गया।

कैद की अवधि पूरी करने के लिये मैंने घर से अलग एक मकान भाड़े पर लेकर रहने का निश्चय किया। मेरे साथ असहयोग करनेवाले छात्र तथा चंद अध्यापक थे। वहीं फरवरी सन् १६२१ में काशी-विद्यापीठ का आरम्भ हुआ, जिसके लिये बाद में शिवप्रसादगुप्त ने १० लाख की रकम दान करके एक ट्रस्ट बना दिया। नियमित रूप से विद्यापीठ का उद्घाटन गांधीजी ने पं० मोतीलाल नेहरू, अबुल कलाम आदि नेताओं की उपस्थिति में किया। इस अवसर पर विशाल जनसमूह एकत्र हुआ था। नगर-कोतवाल ने एक सार्वजनिक सभा में पहले-पहल एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया। बड़ी कठिनाई से गांधीजी तथा अन्य नेताओं को मोटर गाड़ियों पर उनके वासस्थान तक पहुँचाया गया। उसी दिन संध्या को एक बड़ी सभा हुई। इस बार भी बहुत विशाल भीड़ और पहले से भी ज्यादा शोरगुल। पन्द्रह मिनट के बाद जब शोरगुल कम हुआ, गांधीजी ने एक संक्षिप्त भाषण दिया और फिर जल्दी से सभास्थान से प्रस्थान कर गये। मैं बतौर अंगरक्षक उनकी गाड़ी पर उनके पीछे बैठा हुआ था। गाड़ी बहुत ही मन्द गति से चल रही थी। लोग गांधीजी की जय-जयकार तो कर ही रहे थे, किन्तु इतने से ही उन्हें संतोष नहीं होता था, इसलिये उनके शरीर का

जीवन-झाँकी

श्रीव्रजकृष्ण

गांधीजी का जन्म आश्विन वदी १२ संवत् १९२५ (अर्थात् २ अक्तूबर, १८६९) को पोरबंदर (सुदामापुरी) में हुआ था। उनके पिता का नाम श्रीकर्मचन्द गांधी और उनकी माता का नाम श्रीमती पुतलीबाई था। उनका बचपन पोरबन्दर में ही बीता और विवाह १३ वर्ष की आयु में श्रीमती कस्तूरबा के साथ हुआ था। १८८७ में मैट्रिक की परीक्षा पास करके १८८८ में वह बैरिस्टरी पास करने विलायत चले गये थे। जाते समय उनकी माता ने उनसे तीन प्रतिज्ञाएँ ली थीं कि वह मांस, मदिरा और स्त्री इन तीनों से दूर रहेंगे। १८९१ में वह बैरिस्टर बने और देश लौट आये। बैरिस्टरी करने के विचार से १८९३ में वह अफ्रीका चले गये।

गांधीजी का सार्वजनिक जीवन दक्षिण अफ्रीका में शुरू हुआ, जहाँ उन्होंने मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये जानेवाले अमानुषिक अन्यायों और अत्याचारों को अपनी आँखों से देखा और स्वयं तरह-तरह के अपमान सहे। बैरिस्टर होते हुए भी वह 'कुली बैरिस्टर' कहलाये, क्योंकि वहाँ के सफेद वर्णवाले अंग्रेज हिन्दुस्तानियों को कुली कहकर पुकारते थे। भारतीय न तो गोरों के साथ एक गाड़ी में बैठ सकते थे, न रेल के दर्जे में

अब मेरा यह लेख बहुत लंबा हो चला है। इसे मैं यहीं समाप्त करता हूँ। हो सकता है कि इसमें तारीख और घटनाओं के सम्बन्ध में भी बहुत-सी भूलें रह गई हों। इन त्रुटियों के लिये पाठक मुझे क्षमा कर देंगे और भूलें सुधार लेंगे। वे कृपया इस बात को स्मरण रक्खेंगे कि मेरी स्मृति अब बहुत पुरानी, ८० साल की हो चुकी है और अंगरेजी, संस्कृत तथा कुछ फारसी की किताबों को लगातार पढ़ते रहने से उसपर बहुत बड़ा बोझ पड़ा है। मैंने अपने इस अध्ययन का उपयोग अपनी सबसे प्रिय और बहु-प्रशंसित पुस्तक 'सर्व धर्म-समन्वय' में किया है। इस पुस्तक को प्रशंसा भारत से बाहर थियोसफिकल सोसाइटी की शाखाओं द्वारा पचास देशों में यहाँ से भी अधिक हुई है।

पुनश्च—हाँ, एक घटना का जिक्र करना तो मैं भूल ही गया था। सन् १६३२ के नवम्बर में गांधीजी ने मुझे यरवदा जेल में बुलाया था। लगातार दस दिनों तक उनके साथ मेरा मिलना-जुलना होता रहा। उस समय हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को लेकर पण्डितों के बीच जो शास्त्रार्थ चल रहा था, उसीमें सहायता देने के लिये उन्होंने मुझे बुलाया था। इसी तरह सन् १६३४ में बनारस में श्रीराजगोपालाचार्य के साथ मेरी जो मुलाकातें हुई थीं, और सरदार पटेल के साथ भी और उनकी पुत्री मनीबेन का अचानक बीमार पड़ जाना और इसी प्रकार की सारी घटनायें भी हैं, जिनका उल्लेख ऊपर नहीं किया गया है।

साथ सफर कर सकते थे, न एक पटरी पर चल सकते थे और न एक होटल में ठहर सकते थे। गांधीजी ने गुलामी की इस भयंकरता का वड़ी तीव्रता के साथ अनुभव किया। उनके जीवन में क्रांति की आग भड़क उठी और उन्होंने मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये जानेवाले अन्यायों के विरुद्ध आवाज उठाने का निश्चय कर लिया।

१८९४ में उन्होंने नेटाल कांग्रेस की स्थापना की और १९०४ में 'इंडियन-ओपिनियन' नाम के एक साप्ताहिक पत्र का संपादन करना शुरू किया, जिसके सम्बंध में उन्होंने एक बार लिखा—"इसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा को उँड़ेलता हूँ और उस चीज को समझने का प्रयत्न करता हूँ जिसे मैं सत्याग्रह नाम से पहचानता हूँ।"

इन्हीं दिनों वापूजी ने रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक पढ़ी जिससे उनके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए। उन्होंने उसका भाषांतर 'सर्वोदय' के नाम से किया जिसके सिद्धान्त ये हैं—

(१) सबके भले में अपना भला समझो; (२) वकील और नाई दोनों के नाम की कीमत एक सी होनी चाहिये, क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक-सा है और (३) मजदूर और किसान का, अर्थात् परिश्रम का, जीवन ही सच्चा जीवन है।

इन दिनों बापूजी के विचारों और मानस में भारी परिवर्त्तन

शुरुआत करनी चाहिये। ऐसा करने से सत्य की प्राप्ति शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।"

ये वचन निश्चय ही सांसारिक मापतौल के हिसाब से अव्यावहारिक हैं। सांसारिक मापतौल, अर्थात्—जिसे लोग सांसारिक मापतौल मानते हैं। क्योंकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार दोनों असंगत वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। यदि अध्यात्म की संसार से पटरी न खाये तो यह फिर कोरी कल्पना की चीज रह जाता है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते हैं कि जो क्षेत्र हमारा नहीं है उसमें पड़ने का हमें अधिकार ही कहाँ है? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नहीं हैं, पर यह भी कहा जासकता है कि जिसने डाक्टरी नहीं सीखा वह डाक्टर से कहीं अपूर्ण है। पर गांधीजी इसका जवाब यह देंगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे हैं कि लाभ कम करें या ज्यादा, हानि तो कर ही नहीं सकते।

मैंने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगों के प्रति उनकी रुचि कम नहीं हुई है। आज भी आश्रम में यक्ष्मा के रोगी हैं, कुष्ठ के रोगी हैं, और कई तरह के रोगी हैं। और, उनकी चिकित्सा में गांधीजी रस लेते हैं। इसमें भावना तो सेवा की है। रोगियों की सेवा और पतितों की रक्षा, यह उनकी प्रवृत्ति है। पर शायद जाने-अनजाने उनके चित्त में यह भी भावना है कि गरीब मुल्क में ऐसी चिकित्सा जो सुलभ हो, जो सादी हो, जो गांव-गंवई में भी की जा सके, जिसमें विशेष व्यय न हो,

हो रहे थे। यह उनका साधनाकाल था। १६०६ में उन्होंने ब्रह्मचर्य पालन का व्रत ले लिया।

इसी वर्ष उन्हें भारतवासियों के अधिकारों के लिये दक्षिण अफ्रीका की सरकार से लड़ना पड़ा। उन्होंने आठ वर्ष सत्याग्रह की लड़ाई चलाई। आठ वार वह जेल गये, पर अंत में उनको सफलता मिली। १६१२ में उन्होंने टाल्स्टाय-आश्रम स्थापित किया और १६१४ में वहाँ का काम समाप्त कर वह विलायत चले गये। वहाँ पहुँचते ही पहला महायुद्ध शुरू हो गया। काम की अधिकता के कारण वापूजी को प्लूरिसी हो गई और १६१५ में उन्हें भारत लौट आना पड़ा।

दक्षिण अफ्रीका में वापूजी को सत्याग्रह द्वारा जो सफलता प्राप्त हुई थी, उसकी चर्चा भारत में फैल तो चुकी थी, मगर सत्याग्रह के स्वरूप से भारतवासी विलकुल अनभिज्ञ थे। भारत पहुँचते ही वापूजी के सामने एक-के-वाद एक ऐसी-ऐसी समस्याएँ उपस्थित होने लगीं कि उन्हें शीघ्र ही अपने सत्याग्रह-अस्त्र का यहाँ भी प्रयोग करना पड़ा।

१६१५ में २५ मई को अहमदावाद के पास कोचरव में सत्याग्रह-आश्रम स्थापित करने के वाद सवसे पहले वापूजी को विहार प्रान्त के चम्पारन जिले में जाना पड़ा, जहाँ 'तीन कठिया' के अन्यायकारी कानून से छुटकारा दिलाने को उन्होंने सत्याग्रह ठाना। राजेन्द्रवावू, ब्रजकिशोर वावू और दूसरे कितने ही वड़े-वड़े वकीलों और रईसों का जीवन ही वदल गया। हमारे वर्त्तमान

राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू सबसे पहले व्यक्ति हैं जो बापूजी के प्रभाव में आये। चम्पारन सत्याग्रह के बाद ही बापूजी को अहमदाबाद के मिल-मालिकों से लड़ना पड़ा और मजदूरों ने उनसे सत्याग्रह का पाठ सीखा। उनसे पहले किसीने अहिंसक हड़ताल का नाम ही न सुना था।

१६१६ में गांधीजी भारत के राजनैतिक क्षेत्र में पूरी तरह से उतर आये और रोलेट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके उन्होंने देशभर में सत्याग्रह की लहर फैला दी। उस समय हिन्द के राजनैतिक क्षेत्र में दो दल थे—(१) गर्म दल, जिसके नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे और (२) नर्म दल, जिसके नेता श्री श्रीनिवास शास्त्री थे। कांग्रेस का काम तब यहीं तक सीमित था कि वर्ष-भर में एक बार अधिवेशन कर लिया जाता था और प्रस्ताव पास करके सरकार के पास निवेदन-पत्र भेज दिया जाता था। इसके बाद वह सालभर के लिये मौन हो जाती थी।

गांधीजी का तरीका बिलकुल जुदा था। उन्होंने कांग्रेस की शकल ही बदल दी। प्रस्ताव पास करवाकर हुकूमत के पास अर्जी तो वह भी भेजते थे, मगर उनकी अर्जी मुर्दा नहीं होती थी, उसके पीछे अमल करने की शक्ति भी होती थी। वह जो कहते थे, पूरी तरह विचार करके कहते थे और जो निश्चय करते थे, तुरन्त ही उसपर अमल करना शुरू कर देते थे। चूँकि वह कुछ छिपाकर नहीं रखते थे, इसलिये वह

हुकूमत को पहले से ही बता देते कि वह क्या-क्या करनेवाले हैं। सरकार के लिये ये बातें नई होती थीं। वह उनको रोकने के तरीके नहीं जानती थी। वह तो जोर-जबरदस्ती और हिंसा पर खड़ी थी, इसलिये वह हर बार कुंठित होकर रह जाती थी।

सत्याग्रह का पहला प्रभाव जनता के दिलों से भय को दूर करने के रूप में प्रकट हुआ। उस समय कुछ सशस्त्र क्रान्तिकारी भी थे जो छिपकर हिंसा से काम लेते थे, मगर जल्द ही पकड़े जाते थे। उसका परिणाम इतना प्रतिकूल निकलता था कि प्रगति के बदले और भी पतन हो जाता था और जनता के हृदय में आतंक छा जाता था। गांधीजी के मार्ग ने लोगों में उत्साह और निर्भयता उत्पन्न कर दी और त्याग एवं बलिदान की भावना को जन्म दिया।

जो लोग लाल पगड़ी को देखकर काँप उठते थे, वे अब खुलेआम उनकी लाठियों और गोलियों का प्रहार सहने लगे। जेल जाना जो पहले अपमानसूचक गिना जाता था, पवित्र-यात्रा कहलाने लगा। न केवल मर्द बल्कि हजारों की संख्या में औरतें तक जेल जाने लगीं। जो विद्रोह लुक-छिपकर होता था, वह खुलेआम होने लगा।

गांधीजी ने घर-घर क्रांति की आग लगा दी। लड़का बाप से अलग हुआ, पति पत्नी से, भाई बहन से, मित्र मित्र से। हरएक ने अपने बृहत् कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिया और देश

को स्वतन्त्र करवाने में यथाशक्ति योग देना आरम्भ किया। गांधीजी ने वकीलों से वकालत छुड़वाई और डाक्टरों से डाक्टरी। विद्यार्थियों से पढ़ना छुड़वाया और नौकरी पेशा-वालों से नौकरी। पदवीधारियों से उन्होंने पदवी का मोह छुड़वाया और धनिकों से माया का मोह; राजाओं से राजपाट छुड़वाया, शराबियों से शराब छुड़वाई और जुआरियों से जुआ। इसी तरह जो लोग ऐश और आराम का जीवन व्यतीत कर रहे थे, उनको उस जीवन की ओर से उदासीन बनाकर बापूजी ने उन्हें घरों से बाहर खींच बुलाया। जो विदेशी सभ्यता और विदेशी वस्तुओं के प्रेमी थे, उन्हें उन्होंने मोटे कपड़े,को लंगोटी बँधवा दी। कैसा था उनका जादू! वह धर्मगुरु न थे मगर जो नास्तिक थे, उनसे भी उन्होंने राम-नाम का उच्चारण करवा लिया। जो बड़े-बड़े कल-कारखानों के पुजारी थे, उनसे उन्होंने चरखा चलवा दिया। जो पाँच कपड़ों और बढ़िया हैट के बिना घर से बाहर पैर नहीं रख सकते थे, उन्हें नंगे बदन और नंगे पैर घुमा लिया; जो पर-धर्मी के हाथ का छुआ न खाते थे और अपनी ही जैसी मनुष्य-योनि से उत्पन्न लोगों को नीच मानते और उन्हें अचानक छू लेने पर नहाने की जरूरत समझते थे, उन्हींसे उन्होंने उनके पाखाने तक साफ करवा दिये। जिन्होंने अपने घर की दीवारों को छोड़कर सूर्य भगवान् के दर्शन तक नहीं किये थे, उन स्त्रियों को उन्होंने मर्दों के बीच खुले मैदान में लाकर खड़ा कर दिया।

कहाँ तक बताऊँ उनकी क्रांति की बातें। जिस ओर निगाह डालता हूँ सब-कुछ गांधीमय ही दिखाई देता है। जो सदा धक्के ही खाता आया था, उस गरीब और बेबस किसान की इतनी हिम्मत कि लगान देने से इन्कार कर दे! उसके खेत उजाड़े जा रहे हों, उसके प्यारे पशु उसकी आँखों के सामने नीलाम किये जा रहे हों उसका घर-बार लूटा जा रहा हो, उसके भाई-बन्द जेल में बंद किये जा रहे हों और वह हँसता रहे! क्या गांधीजी से पहले किसीने ऐसी बातें सुनी थीं? जिसे बेगार करते-करते दम नहीं आता था, मार और अपमान ही जिसके भाग्य में बदा था, क्या थी उस कुली की मजाल कि वह साहब बहादुर की बेगार करने से इन्कार कर दे और साहब बहादुर उसका कुछ न कर सकें? गांधीजी ने सब अनहोनी बातें होनी कर दिखाईं।

१६१६ में गांधीजी जब अमृतसर कांग्रेस में शरीक हुए तब तिलक महाराज भी अपनी पार्टी के साथ आये हुए थे। उस समय तिलक महाराज ही देश के सबसे बड़े नेता माने जाते थे। मगर उन्होंने तुरन्त महसूस कर लिया कि गांधी-युग आरम्भ हो गया है और सहर्ष अपना स्थान गांधीजी के लिये छोड़ दिया। १६२० में जब गांधीजी पूर्ण असहयोग की तैयारियाँ कर रहे थे, तिलक महाराज उन्हें आशीर्वाद देकर सदा के लिये विदा हो गये।

तिलक महाराज के बाद गर्म दल के नेताओं में लाला

लाजपत-राय, मौलाना आजाद और अलीभाई थे। १९१४ के युद्धकाल में भारत-सरकार ने इन्हें भारत रक्षा-कानून के अन्तर्गत बड़ा त्रास पहुँचाया था, इन्हें नजरबन्दी, देश-निर्वासन और जेल की यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। मगर इन सब नेताओं की राजनीति गांधीजी की राजनीति से बिलकुल भिन्न थी। गांधीजी ने भारत की राजनीति की बागडोर अपने हाथ में लेकर इन नेताओं के जीवन और कार्य-प्रणाली में भी भारी परिवर्तन ला दिया। साथ ही उन्होंने हर प्रांत में नये-नये नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का निर्माण भी शुरू कर दिया। चिराग को देखकर परवाने खुद-ब-खुद न्योछावर होने लगे। युक्तप्रांत से पं० मोतीलाल नेहरू उठे। उनके साथ उनके चिरंजीव पुत्र प० जवाहरलाल और उनका सारा परिवार उठा। प्रत्येक जिला और देहात जाग उठा। बंगाल में देशबन्धु चित्तरंजन दास आगे बढ़े। वह भी अकेले नहीं आये, सैकड़ों और हजारों की संख्या में कार्यकर्त्ता उनके साथ निकल पड़े। गुजरात और बम्बई से विट्ठलभाई पटेल और वल्लभभाई पटेल निकले। वल्लभ काका तो गुजरात क्या, देशभर में सरदार कहलाने लगे; वहाँ के कार्यकर्त्ताओं का तो कहना ही क्या, वह तो बापू का अपना प्रान्त ठहरा। मध्यभारत में सेठ जमनालाल बजाज ने नेतृत्व सँभाला। महाराष्ट्र में डा० अभ्यंकर, मद्रास में श्री राजगोपालाचार्य, श्री श्रीनिवास आयंगर व अन्य कितने ही नेता व कार्यकर्त्ता आगे बढ़े। बिहार में तो राजेन्द्रप्रसादजी पहले से ही मौजूद

थे। उड़ीसा, आसाम आदि से भी कईएक नये सेनापति अपने दलबल के साथ स्वतन्त्रता के संग्राम में कूद पड़े। दिल्ली भला कैसे चुप बैठती! यहाँ से भी हकीम अजमल खाँ, डा० अन्सारी और स्वामी श्रद्धानन्द उठे। सीमाप्रान्त में अब्दुल गफ्फार खाँ सरहदी गांधी ही कहलाने लगे।

इस प्रकार सारा देश नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की हलचलों से गूँज उठा और थोड़े ही समय में भारत सरकार का सिंहासन सत्याग्रह के भूकम्प से हिलने लगा। जगह-जगह विदेशी कपड़ों की होलियाँ सुलगने लगीं और घर-घर चरखे का संगीत सुनाई देने लगा। जेलों के दरवाजे खुल गये, नर-नारी बड़ी उमंगों के के साथ उनमें प्रवेश करने लगे। माताएँ अपने पुत्रों को, वहनें अपने भाइयों को, पत्नियाँ अपने पतियों को--बड़े प्रेम के साथ विदा करती थीं और अवसर आने पर स्वयं अन्दर जा पहुँचती थीं।

१६२१ में बापूजी ने कांग्रेस का पहला विधान तैयार किया। उसके बाद कांग्रेस में जो-जो परिवर्तन हुए, बापूजी की ही देखरेख में हुए। उनके प्रभाव से कांग्रेस ने इतनी शक्ति प्राप्त की कि देखते-ही-देखते वह एक छोटे पौधे से बढ़कर विशाल वृक्ष बन गई और उसकी जड़ें पाताल तक पहुँच गईं। इसी कांग्रेस ने अनेक बार सत्याग्रह आंदोलन किया, स्वराज्य की लड़ाइयाँ लड़ीं और अन्त में देश को आजादी दिला दी। यह सब गांधीजी की ही देन है। उनका अन्तिम लेख कांग्रेस की पुनर्रचना पर

था, जिसपर ३० जनवरी को उस रक्त-रंजित रात्रि को विचार होनेवाला था। वह काँग्रेस को बढ़ती हुई खराबियों को निकाल कर उसे एक लोक-सेवक-संघ का रूप देना चाहते थे। वह जनता को मनोवृत्ति को जानते थे और उसे प्रलोभनों से बचाकर सत्य के मार्ग पर ले जाना चाहते थे।

इस प्रकार जितना भी विचार किया जाय, आज कोई ऐसा सच्चा कार्य देखने में नहीं आयगा, जिसमें बापूजी का हाथ न हो। किसी कार्य को करते समय उनकी सलाह और उनका आशीर्वाद लिये बिना किसीको संतोष और आत्म-विश्वास होता ही न था। उस काल-रात्रि के दिन पंडित जवाहरलाल कहने लगे कि उन्हें बापूजी से हर काम में सलाह लेने की इतनी आदत पड़ गई थी कि जब वह उनके शव को श्मशान ले जाने की योजना बनाने लगे तो सहसा यह सोचकर उठ खड़े हुए कि चलकर बापू की सलाह ले लूं; मगर तुरन्त ही ध्यान आया कि बापू अब कहाँ?

अर्जुन ने भगवान् से पूछा था—"आपका नित्य चिन्तन करते-करते मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ? किस-किस रूप में मुझे आपका चिन्तन करना चाहिये?" भगवान् ने कहा था—"मेरी विभूतियों का अंत ही नहीं है, जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उसको मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ समझो।"

ठीक यही बात बापूजी के लिये कही जा सकती है। उनकी विभूतियों की, उनके कार्यों की, उनकी सेवाओं की, उनके त्याग

और तपस्या की—न कोई माप है, न गणना है, न अन्त है। वह न होते तो न मालूम हम कितने वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में जकड़े पड़े रहते? हमारी स्वतन्त्रता के दाता और आराध्य-देव यदि बापूजी नहीं तो और कौन है? जो कुछ विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, सब उनकी ही देन है, सब उनकी ही तपस्या का परिणाम है। उनके एक अंशमात्र से यह सारा हिंद-संघ स्थित है। आज यहाँ जितने नेता और कार्यकर्त्ता हैं, सब उनके ही तेज से प्रकाशित हो रहे हैं। वह वास्तविक अर्थों में हमारे राष्ट्रनिर्माता और राष्ट्रपिता थे।

क्या उनके दिखाये मग पर चलने की बुद्धि ईश्वर हमें देगा? और क्या हम उनके बताये इस उपदेश का अनुसरण कर सकेंगे।

"न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।"

"न मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग की इच्छा करता हूँ। मैं मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं तो यही चाहता हूँ कि दुःख से तपते हुए प्राणियों की पीड़ा का नाश हो।"

—०—

मेरा प्रथम साक्षात्कार

पं० जवाहरलाल नेहरू

गांधीजी से मेरी पहली मुलकात लखनऊ कांग्रेस के समय सन् १९१६ में बड़े दिनों में हुई। जिस बहादुरी के साथ वह दक्षिण अफ्रीका में लड़े थे उसके लिये हम सब उनकी प्रशसा करते थे, किन्तु हममें से बहुत-से नौजवानों को वह अपने से बहुत दूर, बिलकुल भिन्न और अराजनैतिक मालूम पड़ते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपने को दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के प्रश्न तक ही सीमित रक्खा था। इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने चम्पारन में किसानों की ओर से जो साहसिक कार्य किये और इन कार्यों में उन्हें जो विजय मिली उससे हममें उत्साह की एक लहर दौड़ गई। हमने देखा कि वह अपने तरीकों का भारत में भी प्रयोग करने को तैयार हैं और उन तरीकों में हमें सफलता की आशा दिखाई दी।

महासमर के बाद भारतवासी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें, अब हमें क्या मिलता है। उनके मन में क्रोध था, वे लड़ने को उतारू दिखाई देते थे, उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी, फिर भी वे प्रतीक्षा में थे। कुछ ही महीनों में नई ब्रिटिश नीति का पहला फल, जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इंतजार किया जा रहा था, एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया,

जिसमें क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के लिये खास कानून पास करने की व्यवस्था की गई थी। अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होनेवाला था। इन कानूनों का प्रस्ताव एक कमोटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे 'रौलट बिल' कहलाते थे। कुछ ही दिनों में ये बिल देश के कोने-कोने में 'काले बिल' कह कर पुकारे जाने लगे और सब जगह सब वर्गों के भारतवासियों ने, जिनमें नरम-से-नरम विचारवाले भी शामिल थे, उनकी निन्दा की। इन बिलों में सरकार को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे और पुलिस के लोगों को गिरफ्तार करने, अदालत में पेश किये बिना ही जेल में रखने या जिस किसीको वह पसन्द नहीं करती थी या शक की नजर से देखती थी, उस पर गुप्त अदालती कार्रवाई करने का हक दिया गया था। उन दिनों इन बिलों का वर्णन आमतौर पर इन शब्दों में किया जाता था ; 'न वकील, न अपील, न दलील' जैसे-जैसे इन बिलों का विरोध जोर पकड़ता गया वैसे-वैसे एक नई वस्तु प्रकट होती गई—देश के राजनैतिक आकाश में बादल का एक छोटा टुकड़ा दिखाई दिया जो बड़ी तेजी से बढ़ा और फैलते-फैलते सारे आकाश में छा गया।

यह नया तत्त्व था मोहनदास करमचन्द गांधी। लड़ाई के दिनों में ही वह दक्षिण अफ्रीका से लौट आया था और साबरमती के आश्रम में अपने साथियों को लेकर जा बसा था। अब तक वह राजनीति से अलग रहा था। उसने सरकार को

युद्ध के लिये रंगरूटों की भरती तक करने में सहायता दी थी। दक्षिण अफ्रीका के अपने सत्याग्रह संघर्ष के बाद से वह भारत में काफ़ी ख्याति पा चुका था। सन् १९१७ में उसने बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपियन निलहे गोरों के अत्याचारों से दुःखी और पददलित किसानों के पक्ष का बड़ी सफलता के साथ समर्थन किया था। बाद में वह गुजरात में खेड़ा के किसानों का पक्ष लेकर खड़ा हुआ था। सन् १९१९ के आरम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गया और अभी वह स्वस्थ भी न हो पाया था कि रौलट बिल के विरोध से देश का कोना-कोना गूँज उठा। इस व्यापक क्रंदन में उसने भी अपनी आवाज मिला दी।

किन्तु उसकी आवाज औरों की आवाज से कुछ जुदा थी। वह एक शांत और धीमी आवाज थी, लेकिन जनसमुदाय की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, किंतु उसमें कहीं-न-कहीं फौलादी स्वर छिपा दिखाई देता था। उस आवाज में शील था और वह हृदय को छू जाती थी, फिर भी उसमें कोई ऐसा तत्त्व था जो कठोर और भय उत्पन्न करनेवाला था। उस आवाज का एक-एक शब्द अर्थपूर्ण था और उसमें एक तीव्र आत्मीयता का अनुभव होता था। शांति और मित्रता की उस भाषा में शक्ति व कर्म की काँपती हुई छाया थी और था अन्याय के सामने सिर न झुकाने का संकल्प। अब हम उस आवाज से परिचित हो चुके हैं, पिछले १४ वर्षों में हम उसे काफी सुन चुके हैं। किंतु सन् १९१९

की फरवरी और मार्च के महीनों में वह हमारे लिये एक बिलकुल नई अवाज थी। उस समय हमारी समझ में नहीं आता था कि हम उसका क्या करें, फिर भी हम उसे सुन-सुन कर रोमांचित हो उठते थे। वह हमारी उस राजनीति से बिलकुल भिन्न थी जिसमें शोरगुल बहुत होता था और निन्दा करने के सिवा और कुछ नहीं किया जाता था। वह उन लम्बे-लम्बे भाषणों से भी बिलकुल अलग थी, जिनके अंत में विरोध के वे निरर्थक और निष्फल प्रस्ताव पास होते थे, जिन्हें कोई अधिक महत्त्व नहीं देता था। गांधी की राजनीति कर्म की राजनीति थी, बात की नहीं।

सत्याग्रह-आंदोलन

महात्मा गांधी ने ऐसे लोगों की एक सत्याग्रह-सभा बनाई, जो कुछ चुने हुए कानूनों को भंग कर अपने आपको गिरफ्तार कराने को तैयार थे। उस समय यह एक बिलकुल नया विचार था और हममें से बहुत-से लोग उससे उत्तेजित हुए, यद्यपि बहुत-से पीछे भी हटे। आज वही सत्याग्रह एक रोजमर्रा की घटना बन गया है और हममें अधिकांश के लिये तो वह जीवन का एक नियमित और स्थायी अंग हो गया है। जैसा कि गांधीजी किया करते थे, पहले उन्होंने वाइसराय के पास एक नम्र अपील और चेतावनी भेजी, लेकिन जब उन्होंने देखा कि भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलों को कानून का रूप देने पर तुली है तब उन्होंने

कानून बनने के बाद पहले इतवार को ही सारे देश में शोक मनाने, हड़ताल करने, हर तरह का काम बंद रखने और सभाएँ करने की अपील की। यह सत्याग्रह आंदोलन का श्रीगणेश करने के लिये किया गया था और इस अपील के अनुसार रविवार, ६ अप्रैल, १६१६ ई० को सारे देश में—गाँव-गाँव और शहर-शहर में—सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला अखिल भारतीय प्रदर्शन था। उसका लोगों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा और उसमें सभी प्रकार के लोगों और जातियों ने भाग लिया। हममें से जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिये कार्य किया था, वे उसकी सफलता पर स्तम्भित रह गये। हम शहरों के बहुत ही कम लोगों तक पहुँच पाये थे, किंतु देश में एक नई फिजा छाई हुई थी और किसी-न-किसी तरह हमारा सन्देश लम्बे-चौड़े देश के दूर-दूर के गाँवों तक पहुँच गया था। यह पहला अवसर था जब गाँव और शहरवालों ने साथ-साथ एक जन-व्यापक राजनैतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

दिल्ली में तारीख की भूल से हड़ताल एक सप्ताह पहले अर्थात् ३१ मार्च, १६१६ ही को मना ली गई थी। उन दिनों दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में गजब का भाईचारा और प्यार था और वह दृश्य कितना रोमांचकारी था जबकि आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में जाकर एक बहुत बड़े जमघट के सामने भाषण दिया था। उस ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने

गलियों में जमा हुई बड़ी-बड़ी भीड़ों को तितर-बितर करने की चेष्टा की और उनपर गोलियाँ तक चलाईं, जिससे कई लोग मारे गये। स्वामी श्रद्धानन्द ने, जिनका लम्बा शरीर संन्यासियों के वस्त्र में बड़ा भव्य दिखाई देता था, चाँदनी चौक में गुरखों की संगीनों का निश्चल दृष्टि और खुली हुई छाती के साथ सामना किया। ये संगीनें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकीं और इस घटना से सारे भारतवर्ष में रोमांच हो गया; किंतु दुर्भाग्य की बात है कि आठ साल भी नहीं बीतने पाये थे कि एक मतवाले मुसलमान ने धोखे से रोग-शैया पर ही उनकी हत्या कर डाली।

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाने के बाद घटनाएँ बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ीं। १० अप्रैल को अमृतसर में गड़बड़ी हुई जब कि अपने नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल की गिरफ्तारी पर शोक मनाती हुई निश्शस्त्र और नंगे-सिर भीड़ फौज की गोलियों का शिकार बनी और उसमें से कई लोग मारे गये। इसपर भीड़ ने बदले के उन्माद में दफ्तरों में बैठे हुए पाँच या छः निर्दोष अंग्रेजों को मार डाला और बैंकों की इमारतें फूँक डालीं। इसके बाद मानो पंजाब पर एक परदा पड़ गया। वहाँ कड़ा सेन्सर बैठा दिया गया और पंजाब शेष भारत से बिलकुल कट-सा गया। वहाँ से शायद ही कोई खबर आ पाती थी और लोगों का वहाँ आना-जाना मुश्किल था। वहाँ फौजी कानून भी जारी कर दिया गया था जिसका कष्ट

जनता को कई महीनों तक उठाना पड़ा। धीरे-धीरे हफ्तों और महीनों की यातनापूर्ण प्रतीक्षा के पश्चात् परदा उठा और वहाँ के भीषण सत्य का पता चला।

अमृतसर-हत्याकांड

१३ अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जो कत्लेआम हुआ था उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस फन्दे में फँसकर, जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हजारों की जानें गईं और हजारों घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही नरसंहार का पर्यायवाची बन गया है। वहाँ की घटना तो भयंकर थी ही, उससे भी अधिक लज्जाजनक घटनाएँ सारे पंजाब में घटीं।

यह एक अजीब संयोग की बात थी कि उसी साल, दिसम्बर के महीने में, कांग्रेस का अधिवेशन भी अमृतसर में हुआ। इस अधिवेशन में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया गया, क्योंकि बहुत-सी बातों की जाँच की गई थी और उसके परिणाम का इन्तजार था। फिर भी एक बात साफ दिखाई देती था—वह यह कि कांग्रेस अब पहलेवाली कांग्रेस नहीं रह गई थी। उसमें अब सामूहिकता या जन-व्यापकता आ गई थी और एक नई—कुछ पुराने कांग्रेसियों की समझ में एक चिंताजनक—जीवन-शक्ति आ गई थी। उस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक उपस्थित थे, जो सदा की भांति समझौते

के लिये तैयार नहीं थे। वह आखिरी अधिवेशन था, जिसमें उन्होंने भाग लिया था, क्योंकि अगले अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उसमें गांधीजी भी थे, जो जनता के प्रिय बन गये थे और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर अपनी दीर्घकालीन प्रभुता का आरम्भ ही कर रहे थे। उसी कांग्रेस में सीधे जेल से ऐसे बहुत-से नेता आये थे जिनका फौजी कानून के दिनों में बड़े भयंकर षड्यंत्रों से सम्बन्ध रहा था और जिन्हें लम्बी-लम्बी कैद की सजा हुई थी, किंतु जिन्हें अब क्षमा कर दिया गया था। प्रसिद्ध अली-बंधु भी कई साल तक नजरबन्द रहने के बाद ठीक उसी समय छूटकर आये थे।

कांग्रेस मैदान में

अगले साल कांग्रेस मैदान में कूद पड़ी और गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया गया। यह निर्णय कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में किया गया और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसकी पुष्टि की गई। संघर्ष की यह प्रणाली बिलकुल शांत या जैसा कि उसे नाम दिया गया था, अहिंसात्मक थी। उसका बुनियादी सिद्धान्त यह था कि ब्रिटिश सरकार को उसके शासन-कार्य और भारत के शोषण में सहायता देने से इन्कार कर दिया जाय। श्रीगणेश कई प्रकार

के वहिष्कारों से किया जानेवाला था—विदेशी सरकार द्वारा दी गई उपाधियों का वहिष्कार, सरकारी उत्सवों का वहिष्कार, वकीलों और मवक्किलों द्वारा अदालतों का वहिष्कार, सरकरी स्कूलों और कालेजों का वहिष्कार और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के अन्तर्गत वनाई गई नई कौंसिलों का वहिष्कार! वाद में सिविल और फौजी नौकरियों और टैक्सों का भी वहिष्कार किया जानेवाला था। रचनात्मक दिशा में हाथ से सूत कातने, खद्दर पहनने और अदालतों के वदले पंचायती न्यायालयों की स्थापना पर जोर दिया जाता था। इनके अलावा कांग्रेस कार्यक्रम के दो और मुख्य स्तम्भ थे—(१) हिन्दू-मुस्लिम एकता और (२) हिन्दुओं में से छुआछूत की भावना का निवारण।

कांग्रेस ने अपना विधान भी वदल दिया और वह एक कार्य-क्षम संस्था वन गई। साथ ही उसने अपने सामने जनता की समूहिक सदस्यता का ध्येय भी रक्खा।

कांग्रेस का यह कार्यक्रम उसके अब तक के कार्य से विलकुल भिन्न था। निस्संदेह यह इस संसार में एक निराली योजना थी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्गों के लोगों को तत्काल वड़े-वड़े त्याग करने पड़े। उदाहरण के लिये, वकीलों से वकालत छोड़ने के लिये कहा गया और विद्यार्थियों को सरकारी कालिजों का वहिष्कार करने का आदेश दिया

गया। इस महान् प्रयोग के मूल्य को आँकना बड़ा मुश्किल था, क्योंकि और कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिससे उसकी तुलना की जाती। इसलिये कोई ताज्जुब नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता झिझकें और उन्हें नये कार्यक्रम की सफलता पर सन्देह हो। उस समय के सबसे बड़े नेता लोकमान्य तिलक कुछ ही पहले मर चुके थे। दूसरे प्रमुख नेताओं में से शुरू-शुरू में केवल एक मोतीलाल नेहरू ने गांधीजी का समर्थन किया, किंतु आम कांग्रेसियों और जनसाधारण की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रह गया। उनपर गांधीजी का बड़ा जबर-दस्त प्रभाव पड़ा। ऐसा लगता था जैसे गांधीजी ने उनपर कोई जादू कर दिया है और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय' के ऊँचे-ऊँचे नारे लगाते हुए उनके अहिंसात्मक असहयोग के नये सिद्धन्त को अपनी स्वीकृति प्रदान की। मुसलमानों ने भी कम उत्साह नहीं दिखाया। सच पूछिये तो अली-बंधुओं के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने इस कार्यक्रम को कांग्रेस से पहले ही अपना लिया था। थोड़े ही दिनों बाद जनता के उत्साह और असहयोग आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलताओं ने अधिकांश पुराने कांग्रेसी नेताओं को भी अपनी ओर खींच लिया।

राष्ट्रीयता के विकास ने जनता का ध्यान राजनीतिक स्वतंत्रता की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया। यह आवश्यकता केवल इसलिये नहीं थी कि निर्भर और दास बने

रहना अपमानजनक था, या जैसा कि तिलक ने कहा था, स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार था और उसे प्राप्त करना हमारे लिये अनिवार्य था, वल्कि इसलिये भी कि जनता पर से निर्धनता का वोझ कम करना था। आखिर यह स्वतंत्रता कैसे मिल सकती थी? स्पष्ट ही वह हमारे चुपचाप वैठकर प्रतीक्षा करते रहने से नहीं मिल सकती थी। यह भी स्पष्ट हो गया था कि केवल विरोध करने और भीख माँगने की नीति, जिसका अनुकरण अब तक कांग्रेस न्यूनाधिक उत्साह से करती आई थी, न केवल असम्मानजनक, वल्कि निरर्थक और निष्फल भी थी। विश्व के इतिहास में ऐसी नीति भी कभी सफल नहीं हुई थी और न उससे प्रभावित होकर किसी शासक या शक्तिशाली वर्ग ने अपने अधिकारों का त्याग ही किया था। इसके विपरीत, इतिहास ने हमें सिखाया था कि गुलाम वनाये गये लोगों और देशों ने हिंसात्मक विद्रोह और विप्लव से ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त की है।

भारतवासियों के लिये सशस्त्र विद्रोह का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। हमारे पास न शस्त्र थे और न हममें से अधिकांश लोगों को शस्त्र चलाना ही आता था। इसके अलावा, हिंसात्मक संघर्ष के लिये हम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चाहे कितनी भी शक्ति संगृहीत क्यों न करते, उसके संगठित बल की वरावरी किसी तरह भी नहीं कर सकते थे। फौजें तो विद्रोह कर सकती थीं, किंतु निरशस्त्र जनता विद्रोह कर सशस्त्र

शक्ति का सामना कैसे कर सकती थी ? इसके अलावा व्यक्तिगत रूप से आतंक फैलाना या बम और पिस्तौल से किसी अफसर को मारना मानो अपना दिवालियापन दिखाना था। वह जनता के आचार को भ्रष्ट करनेवाली बात थी और यह सोचना बिलकुल उपहासास्पद था कि उससे किसी शक्तिशाली और संगठित सरकार की जड़ हिलाई जा सकती थी, चाहे व्यक्तिगत रूप से उससे लोग कितने ही आतंकित क्यों न हो जाते।

अतः, ये सब रास्ते बंद थे और अपमानजक दासता की उस असह्य अवस्था से कोई छुटकारा नहीं दिखाई देता था। जिन लोगों में थोड़ी-बहुत भी भावुकता थी वे बड़े ही दुःखी और असहाय-से हो रहे थे। यही वह अवसर था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम लोगों के सामने रक्खा। आयरलैंड के शिन फेन* की भाँति इस कार्यक्रम ने हमें अपने पर भरोसा रखना और अपनी शक्ति को बढ़ाना सिखाया और निस्संदेह वह सरकार पर दबाव डालने का एक बड़ा ही कारगर तरीका था। बहुत हद तक सरकार भारतवासियों के सहयोग पर ही निर्भर थी—चाहे यह सहयोग इच्छा से हो,

---

* आर्थर ग्रिफिथ नामक आयरिश युवक द्वारा प्रवर्त्तित एक नवीन नीति, जिसके माननेवालों का कहना था कि सहायता के लिये आयरलैंड को इंग्लैंड का मुँह नहीं ताकना चाहिये, बल्कि अपने राष्ट्र को ही शक्तिशाली बनाना चाहिये।

चाहे अनिच्छा से। और, यदि इस सहयोग को हटाकर सरकार का वहिष्कार किया जाता तो बहुत सम्भव था कि सैद्धांतिक रूप से उसकी सारी इमारत ही ढह जाती। यदि असहयोग से इतना न भी हो पाता तो इसमें तो सन्देह ही नहीं था कि उससे सरकार पर बड़ा जबरदस्त दबाव पड़ सकता था और साथ ही जनता की शक्ति भी बढ़ सकती थी। इस आन्दोलन की रूपरेखा पूर्ण रूप से शांतिपूर्ण थी, फिर भी वह केवल विरोधहीन नहीं था। वह अन्याय के विरोध का एक निश्चित, किंतु अहिंसात्मक रूप था। वस्तुतः वह एक शांतिपूर्ण विद्रोह था, युद्ध का सभ्य-से-सभ्य तरीका था, फिर भी शासक-संस्था के स्थायीत्व के लिये खतरनाक था। जन-साधारण को क्रियाशील बनाने का वह एक बड़ा ही सफल साधन था और भारतीय जनता की विशेष प्रतिभा के बिलकुल अनुकूल प्रतीत होता था। उससे हमारा व्यवहार निर्मल बन गया और शत्रु बगलें झाँकने लगा। जिस भय ने हमें दबोच रक्खा था वह जाता रहा और हम निडर होकर लोगों की आँखों से आँखें मिलाने लगे, जैसा कि हमने पहले कभी नहीं किया था हम अपने मन की बातें साफ-साफ और पूरी तरह से कहने लगे। ऐसा मालूम होता था जैसे हमारे दिमाग पर से एक बड़ा बोझ उतर गया है। बोलने और कार्य कर सकने की इस नई स्वतन्त्रता ने हममें विश्वास और बल भर दिया। इसके अलावा बहुत हद तक इस

जाता है उसी तरह यदि हम जीतना चाहते हैं तो हमें भी अपनी अहिंसात्मक लड़ाई में तानाशाही और फौजी कानून का प्रयोग करना होगा। आपको इस बात का पूरा अधिकार है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर माँग लें और जब चाहें या जैसे चाहें मुझे दंड दें। किन्तु, जब तक आप मुझे अपना नेता बनाकर रखना चाहते हैं, आपको मेरी शर्तें माननी होंगी और तानाशाही तथा फौजी कानून के अनुशासन को स्वीकार करना होगा। किन्तु, वह तानाशाही सदा आपकी सद्भावना, आपकी स्वीकृति और आपके सहयोग पर निर्भर होगी। जैसे ही आप यह समझें कि आपको मेरी जरूरत नहीं रह गई, आप मुझे निकाल फेंकें, मुझे पैरों तले कुचल दें, मैं रत्ती भर भी शिकायत नहीं करूँगा।

उन्होंने कुछ ऐसी ही बातें कहीं और बीच-बीच में जो सैनिक उपमाएँ दीं और जिस दृढ़तापूर्ण सचाई से अपने विचार प्रकट किये उससे अधिकांश श्रोताओं के रोंगटे खड़े हो गये। किन्तु शौकत अली वहाँ ढिलमिल लोगों को सम्हालने के लिये मौजूद थे और जब राय देने का समय आया तब अधिकांश लोगों ने चुपचाप और शर्म से मुँह छिपाये गांधीजी के युद्ध-प्रस्ताव का समर्थन किया।

सभा से घर लौटते समय मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या एक बड़े संघर्ष को आरम्भ करने का यही ढंग है? मैंने उम्मीद की थी कि वहाँ बड़ा उत्साह दिखाई देगा, बड़े-बड़े जोशीले

भाषण होंगे और लोगों की आँखें चमक उठेंगी, किन्तु इनके बजाय वहाँ डरपोक अधेड़ उम्र के लोगों की एक शिथिल-सी भीड़ दिखाई दी। फिर भी जनमत का इतना दबाव था कि इन लोगों को संघर्ष का समर्थन करना पड़ा।

भय का अन्त

हमारी जनता उत्तेजना, पीड़ा और संशय से भरे हुए कुछ इने-गिने वर्षों से नहीं, बल्कि पीढ़ियों से अपना खून और पसीना बहाती आई थी और यह क्रिया भारत की रग-रग में घुसती हुई इतनी गहरी पहुँच चुकी थी कि उससे हमारे सामाजिक जीवन का एक-एक पहलू विषाक्त हो गया था— ठीक उसी भयंकर रोग की तरह जो फेफड़ों के तन्तुओं को खा जाता है और मनुष्य का धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से अन्त कर देता है। कभी-कभी तो हम सोचा करते थे कि ज्यादा अच्छा यह होता कि हैजे या प्लेग की तरह हमारी मृत्यु का कोई अधिक तीव्र और स्पष्ट साधन मिल जाता। लेकिन वह क्षणिक भावना थी, क्योंकि इस प्रकार की साहसिकता से कुछ हाथ नहीं आता। गहरी बीमारियों का नीम-हकीमों से इलाज कराने से कोई लाभ नहीं होता।

और तब गांधी आये। वह ताजी हवा के एक जबरदस्त झोंके की तरह थे, जिसके स्पर्श का अनुभव होते ही हमने अपनी छातियाँ फैलाकर गहरी साँसें लीं। वह रोशनी की एक

किरण जैसे थे जिसने अन्धकार को वेध दिया और हमारी आँखों पर से पर्दा हटा दिया। वह एक तूफान की तरह थे, जिसके झोंके में सब चीजें अस्तव्यस्त हो गईं—सबसे अधिक लोगों की मानसिक क्रिया। वह किसी चोटी से नहीं उतरे, बल्कि भारत के करोड़ों जन में से ही प्रकट होते दिखाई दिये—उन्हीं की भाषा बोलते हुए, सदा उन्हींकी ओर संकेत करते हुए और उनकी हृदय को दहला देनेवाली स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए। उन्होंने हमसे कहा कि जो लोग किसानों और मजदूरों का शोषण करके जीवित रहते हैं वे उनपर से अपना बोझ हटा लें और उस कुरीति को मिटा दें, जो उनकी निर्धनता और विपदा को जन्म देती है।

इसके बाद राजनीतिक स्वतंत्रता ने एक नया रूप ग्रहण किया और उसमें नये-नये विषयों का प्रवेश होने लगा। जो कुछ भी गांधीजी ने कहा उसमें से अधिकांश को हमने या तो केवल अंशतः स्वीकार किया, या कभी-कभी बिलकुल स्वीकार नहीं किया। किन्तु यह सब गौण था। उनके आदेश का सार यह था कि सदा जनता के कल्याण को दृष्टि में रखते हुए अभय और सत्य से काम करो। हमें पुराने ग्रन्थों में सिखाया गया था कि अभय व्यक्ति राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि है और उसका अभिप्राय केवल शारीरिक साहस से ही नहीं, बल्कि मानसिक निर्भयता से भी है। हमारे इतिहास के आरम्भ में ही चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जन-

नेताओं का कर्त्तव्य जनता को अभय-दान देना है। किन्तु, ब्रिटिश राज्य में भारत में सबसे प्रमुख भावना भय की थी—एक सर्वव्यापी, दुःखदायी और गला घोंटनेवाला भय—फौज का भय, पुलिस का भय, कोने-कोने में फैली हुई खुफिया पुलिस का भय, अफसरों का भय, दमनकारी कानूनों का भय, कैद का भय, जमींदार के गुमाश्ते का भय, महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुँह बाये खड़ी रहती थी। गांधीजी ने अपनी शान्त किन्तु दृढ़ आवाज इसी सर्वव्यापी भय के विरुद्ध बुलन्द की। उन्होंने कहा—"डरो मत!"

किन्तु, क्या यह बात इतनी सरल थी? नहीं। भय के भूत खड़े हो जाते हैं, जो असली भय से भी अधिक डरावने होते हैं। जहाँ तक असली भय का सवाल है, जब शांति के साथ उसका विश्लेषण किया जाता है और उसके परिणामों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया जाता है तब उसका बहुत कुछ डरावनापन नष्ट हो जाता है।

इस तरह भय का मानो काला परदा जनता की आँखों से एकाएक उतर गया—पूरा तो नहीं, किन्तु इतना अधिक कि आश्चर्य होता था। जिस तरह भय और झूठ में घनिष्ठ मित्रता है उसी तरह सत्य और अभय में भी। यह तो ठीक है कि भारत की जनता पहले से बहुत अधिक सत्यवादी नहीं बन गई और न रातों-ही-रात उनके असली स्वभाव में ही

परिवर्तन हुआ, लेकिन जैसे-जैसे झूठ और चोरी जैसे व्यवहार की आवश्यकता कम होती गई वैसे-वैसे परिवर्तन का एक समुद्र-सा लहराता दिखाई दिया। यह एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था, ऐसा मालूम होता था जैसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाले किसी विशेषज्ञ ने रोगी के अंतःतल में गहरा उतरकर उसकी कमियों के उद्गम का पता लगा लिया हो और उन्हें उसकी दृष्टि के सामने ला-खड़ाकर उसके मन पर से उनका बोझ उतार दिया हो।

इसके अलावा हममें एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी हुई। जिस विदेशी शासन ने हमारा पतन और अपमान किया था उसके सामने इतने दिनों तक घुटने टेके रखने के कारण हमें लज्जा आई और यह इच्छा उत्पन्न हुई कि अब चाहे कुछ भी हो, हम उसके आगे सिर नहीं झुकायेंगे। जितना सच हम पहले बोलते थे शायद उससे अधिक सच बोलना हमें नहीं आया, किन्तु गांधीजी कट्टर सत्य के प्रतीक बने सदा हमें सहारा देते रहे और लज्जित कर-करके हममें सत्य बोलने की आदत डालते रहे।

सत्य क्या है ?

सत्य क्या है ? मैं इसकी परिभाषा ठीक-ठीक नहीं जानता। शायद सत्य एक तुलनात्मक वस्तु है और सम्पूर्ण सत्य हमारी पहुँच से बाहर है। सत्य के सम्बन्ध में अलग-अलग

लोगों की अलग-अलग धारणाएँ हो सकती हैं और प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी अपनी पृष्ठभूमि, अपनी शिक्षा और अपनी भावनाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है—यही बात गांधीजी के साथ थी। फिर भी जहाँ तक किसी एक व्यक्ति का सवाल है, कम-से-कम उसके लिये सत्य वही है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है और जिसे वह जानता है कि यह सच है। इस परिभाषा के अनुसार मेरी समझ में शायद ही कोई आदमी सत्य का इतना पालन करता हो जितना गांधीजी करते हैं। राजनीतिज्ञ के लिये सत्य एक खतरनाक गुण है, क्योंकि वह अपने मन की सारी बातें बता देता है और जनता को उसके बदलते हुए रूप तक दिखा देता है।

गांधीजी ने भारत के लाखों व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न सीमा तक प्रभावित किया। कुछ लोगों ने अपने जीवन की सारी रूपरेखा ही बदल डाली और कुछ लोगों पर उनका केवल आंशिक प्रभाव पड़ा। कुछ लोग ऐसे भी थे जिनपर से उनका प्रभाव जाता रहा, किन्तु ऐसा पूर्ण रूप से नहीं हुआ, क्योंकि उनके प्रभाव के कुछ अंशों को पूरी तरह से मिटाना सम्भव नहीं हो सका। जुदे-जुदे लोगों पर जुदी-जुदी तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं और प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का अपना अलग-अलग उत्तर देता था। कुछ लोग तो करीब-करीब आल्सीबियाडिज * के ही शब्दों में कहते थे—

* एथेन्स का जनरल और राजनेता।

"इसके अलावा जब कभी हम किसी और को कुछ कहते सुनते हैं तब उसकी बातें चाहे कितनी भी जोशीली क्यों न हों, हम इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं करते कि वह क्या कह रहा है, किन्तु जब हम आपको सुनते हैं या किसी और को आपकी बातों को दोहराते सुनते हैं तब वह उनका कितनी ही बुरी तरह से वर्णन क्यों न करता हो और उसको सुननेवाला चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री, चाहे बालक, हम बिलकुल स्तम्भित और विमुग्ध हो जाते हैं। और, महाशयो, जहाँ तक मेरा प्रश्न है, अगर मुझे यह भय न हो कि आप कहेंगे कि मैं बिलकुल मुग्ध हो गया हूँ तो मैं शपथ लेकर कह सकता हूँ कि उनके शब्दों का मुझपर कितना अद्वितीय प्रभाव पड़ा और अब भी पड़ता है। जबतक मैं उनका बोलना सुनता रहता हूँ, मुझमें एक पवित्र रोष भरा रहता है जो कि किसी भी कोरीबैंट* से बुरा होता है, और मेरा हृदय उछलता रहता है, मेरी आँखों से आँसू बहते रहते हैं—और यह दशा मेरी ही नहीं, बल्कि और बहुत-से लोगों की भी होती है।

"हाँ, मैंने पेरिक्लीज † और दूसरे सभी बड़े वक्ताओं को सुना है और मैं समझा करता था कि ये बड़े ही जोशीले

---

* एक ग्रीक देवी की सेविका, जो माना जाता है कि, अपनी देवी के साथ भयंकर मुद्राओं के नृत्य करती जाती थी।

† एथेन्स का राजनेता और विख्यात वक्ता।

वक्ता हैं, किन्तु उनका मुझपर कभी ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा, उन्होंने कभी मेरी आत्मा में उथल-पुथल नहीं मचाई और उन्हें सुनने के बाद मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं नीचों से भी नीच हूँ; किंतु इन दिनों मरियाज को सुनने के बाद मुझे अकसर ऐसा लगता रहा है जैसे अब भविष्य में मेरे लिये इस तरह का जीवन बिताना असम्भव है।

"और एक बात ऐसी है जो मैंने किसी और के साथ कभी अनुभव नहीं की और जिसे आप मुझमें भी पाने की आशा नहीं कर सकते—वह है लज्जा की भावना। इस संसार में सुकरात की ही एक ऐसी हस्ती है जो मुझे लज्जित कर सकती है। चूँकि उससे बचने का कोई रास्ता नहीं, इसलियेमैं सोच लेता हूँ कि वह मुझे जो करनेको कहता है उसे मुझे कर लेना चाहिये। इतने पर भी जैसे ही मैं उसकी आँखों से ओझल होता हूँ, मुझे इस बात की बिलकुल चिन्ता नहीं रह जाती कि मैं जनसाधारण में मिले रहने के लिये क्या कर रहा हूँ। इसलिये मैं एक भागे हुए गुलाम की तरह तेजी से निकल जाता हूँ और जितनी दूर तक उससे बच सकता हूँ—बचता हूँ। जब उससे फिर कभी मुलाकात होती है तब मुझे वे सब बातें याद आती हैं जो मुझे पहले अंगीकार करनी पड़ी थीं और स्वभावतः मुझे लज्जा आती है।

"मुझे तो साँप से भी ज्यादा विषैले जानवर ने डसा है। सच पूछिये तो मुझे जो डंक लगा है वह सबसे अधिक कष्ट-

दायक है। मेरा हृदय डसा गया है या यों कहिये कि मेरा मस्तिष्क डसा गया है या आप जो कहना चाहें वही सही।"*

किसानों का सहयोग

गांधीजी ने कांग्रेस में घुसते ही फौरन उसके विधान में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उन्होंने इसे प्रजावादी और साधारण जनता की संस्था बना दिया। प्रजावादी तो पहले भी थी, किन्तु अभी तक उसका मताधिकार सीमित था और वह उच्च वर्ग के लोगों तक ही परिमित थी। किंतु अब उसमें धड़ाधड़ किसान प्रवेश करने लगे और अपने नये रूप में वह एक महान् ग्रामीण संस्था जैसी दिखाई देने लगी, जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों की बहुलता थी। कांग्रेस का यह ग्रामीण रूप अभी और भी विकास पानेवाला था। उसमें औद्योगिक मजदूर भी आने लगे—अपनी पृथक संगठित हैसियत में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में।

कर्म इस संस्था का आधार और उद्देश्य माना गया—वह कर्म जो शांतिपूर्ण युक्तियों पर आधारित होता है। अब तक कांग्रेस के सामने केवल दो ही विकल्प रहे थे—कोरी बातचीत करना और प्रस्ताव पास करना या फिर आतंककारी कार्रवाई करना। अब ये दोनों बातें हटा दी गईं। आतंकवाद की तो विशेष रूप से निन्दा की गई और वह कांग्रेस की आधारभूत नीति के बिलकुल प्रतिकूल माना गया। कार्य की

* प्लेटो की पंचवार्त्ता (फ़ाइव डाइलॉग्स आव प्लेटो)

एक नई प्रणाली निकाली गई, जो थी तो पूर्णतः शांतिपूर्ण, किन्तु जिसमें अन्याय के सामने सिर न झुकाने और, फलतः, उसमें निहित पीड़ा और कष्ट को स्वेच्छा से स्वीकार करने का आदेश था। गांधीजी एक बड़े ही विलक्षण ढंग के शांतिवादी थे, क्योंकि वह विस्फोटक स्फूर्ति से परिपूर्ण कर्मशील व्यक्ति थे। वह भाग्य या किसी भी ऐसे तत्त्व के सामने, जिसे वह बुरा समझते थे, सिर नहीं झुकाते थे। उनमें अपार विरोध-शक्ति थी, यद्यपि वह शक्ति शांत और विनम्र थी। गांधीजी के कर्म की पुकार दुहरी थी—एक तो विदेशी शासन को चुनौती देने और उसका विरोध करने की, और दूसरी स्वयं अपने देश की सामाजिक बुराइयों से संघर्ष करने की। देश की स्वाधीनता और शांतिपूर्ण कार्य-प्रणाली के आधारभूत लक्ष्य के अतिरिक्त कांग्रेस के दो और भी मुख्य उद्देश्य थे—एक, राष्ट्रीय एकता—जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान निहित था और दूसरा, दलित जातियों का उत्थान तथा अस्पृश्यता के अभिशाप का निराकरण।

उपाधियाँ और नरेश

गांधीजी ने देखा कि ब्रिटिश राज्य मुख्यतः इन आधारों पर खड़ा है—भय, मर्यादा, जनता का इच्छित या अनिच्छित सहयोग और कुछ ऐसे लोग, जिनका स्वार्थ ब्रिटिश राज्य के साथ बँधा हुआ था। अतः, उन्होंने इन्हीं जड़ों पर आघात

करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, "उपाधियों का बहिष्कार करो।" और गो कि बहुत ही कम उपाधिधारियों ने उनकी बात मानी तो भी अंग्रेजों द्वारा दी जानेवाली उपाधियों पर से लोगों की आस्था हट गई और वे अपमान के चिह्न माने जाने लगे। जीवन की सार्थकता के नये-नये मान स्थापित होने लगे और वाइसराय के दरबार और नरेशों की जो शान-शौकत लोगों को इतना प्रभावित करती थी, वह चारों ओर जनता की गरीबी और मुसीबतों से घिरी होने के कारण एकाएक बहुत ही हास्यास्पद, भद्दी और लज्जाजनक मालूम देने लगी। धनी लोगों में अब अपने धन का मिथ्या प्रदर्शन करने की उतनी उत्सुकता नहीं दिखाई देती थी और कम-से-कम दिखावे के लिये तो उन्होंने सरल जीवन को अपना लिया। पोशाक में तो वे साधारण जनता से प्रायः अभिन्न हो गये।

कांग्रेस के जो पुराने नेता एक बिलकुल ही दूसरी तरह की और ज्यादा आरामतलब परम्परा में पले थे, उन्होंने ये नई बातें आसानी से नहीं अपनाईं और उन्हें जनता की भीड़ को देख-कर चिन्ता हुई। फिर भी सारे देश को अपने प्रवाह में बहा ले जानेवाली नई विचारधारा की लहर इतनी तीव्र थी कि उसका कुछ प्रभाव उनपर भी पड़ा। कुछ लोगों ने उधर से मुँह भी मोड़ लिया और उनमें से एक मुहम्मदअली जिन्ना थे। उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया—इसलिये नहीं कि उनका हिंदू-मुस्लिम प्रश्न पर कांग्रेस से कोई मतभेद हो गया था, बल्कि

इसलिये कि वह अपने को इस नई और अधिक उन्नत विचार-धारा के अनुकूल नहीं बना पाये। इससे भी अधिक इस कारण से कि उन्हें बेढंगे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानी बोलनेवाले लोगों का इस प्रकार झुंड-के-झुंड कांग्रेस में घुसना अच्छा नहीं लगा। उनकी समझ में राजनीति एक उच्च कोटि की वस्तु थी और धारा-सभाओं या कमेटी के कमरों के लिये अधिक उपयुक्त थी। कुछ वर्ष तक वह अपने को बिलकुल अलग समझते रहे और उन्होंने सदा के लिये भारत छोड़कर चले जाने का भी निश्चय कर लिया। वह इंगलैंड में जा बसे और वहाँ कई साल तक रहे।

कहा जाता है, और मैं समझता हूँ कि ठीक ही कहा जाता है, कि भारतवासियों का स्वभाव प्रधानतः शांत है। शायद जीवन के प्रति पुरानी जाति के लोगों की मनोवृत्ति ऐसी ही हो जाती है और बहुत दिनों से चली आई आध्यात्मिक परम्परा का भी कुछ ऐसा ही परिणाम होता है। फिर भी गांधीजी भारत के एक आदर्श प्रतिनिधि होते हुए भी, शांतिवाद के पूरे प्रतिवाद हैं। उनमें गजब की स्फूर्ति और कर्मण्यता है, वह अपने को ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी खदेड़ते रहते हैं। भारतवासियों की धार्मिक परम्परा से युद्ध करने और उसे बदलने के लिये जितना श्रम गांधीजी ने किया है उतना मेरे जानते में किसी और ने नहीं किया।

उन्होंने हमें गाँवों में भेजा और भारत के देहात नये कर्म-

सिद्धांत के अनगिनत संदेशवाहकों के कार्य-कलाप से गूँज उठे। किसानों की आँखें खुल गईं और वे आलस्य को तिलांजलि दे बाहर निकलने लगे। हमपर कुछ और ही तरह का प्रभाव पड़ा गोकि वह भी उतना ही गहरा और व्यापक था। हमने, मानो अपने जीवन में पहली बार, गाँववालों को पास से देखा कि मिट्टी की झोपड़ियों में सदा भूख की काली छाया उनका पीछा किस तरह किये रहती है। हमें अपने देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों से भी अधिक इन दौरों से हुआ। इस प्रकार हमें जो भावुकतापूर्ण अनुभूति हुई वह दिन-पर-दिन बढ़ती और पुष्ट होती गई और उसके बाद हमारे लिये अपने पुराने ढंग के जीवन या उसके पुराने स्तर पर जाने का कोई प्रश्न नहीं रह गया, चाहे उसके पश्चात् हमारे विचारों में कितने ही परिवर्तन क्यों न होते।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधीजी के विचार बड़े उग्र थे, किंतु उन्होंने कांग्रेस पर अपने-सारे विचार लादने नहीं चाहे, यद्यपि वे उन्हें विकसित करते रहे और ऐसा करते समय कभी-कभी अपने लेखों द्वारा उनमें परिवर्तन भी करते गये। फिर भी अपने कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में अवश्य घुसाना चाहा। इस दिशा में उन्होंने बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाया, क्योंकि वे अपने साथ-साथ जनता को भी ले चलना चाहते थे। कभी-कभी वे इतने आगे बढ़ जाते थे कि कांग्रेस वहाँ तक नहीं पहुँच पाती थी और इसलिये उन्हें पीछे

लौटना पड़ता था। उनके विचारों को पूर्ण रूप से बहुत ही कम लोग मानते थे और कुछ लोग तो उनके आधारभूत दृष्टिकोण से असहमत भी थे। किंतु तत्कालीन परिस्थियों के अनुकूल बने रहने के लिये उनके विचार जिस संशोधित रूप में कांग्रेस के सामने आते थे, उसे बहुत-से लोग स्वीकार कर लेते थे। दो बातों में उनके विचारों की पृष्ठभूमि का एक अनिश्चित किंतु पर्याप्त प्रभाव पड़ता था। हर बात की असली कसौटी यह थी कि उससे जनता को कितना लाभ पहुँचता है। साधन को सदा महत्त्व दिया जाता था और साध्य चाहे कितना ही ठीक क्यों न हो, साधन की अवहेलना नहीं की जाती थी; क्योंकि साधन ही साध्य को संचालित और परिवर्तित करता था।

हिन्दू धर्म

गांधीजी प्रधानतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनके अंग-अंग में हिंदुत्व भरा हुआ था। फिर भी उनकी धार्मिक विचारधारा का किसी मत या रीति-रिवाज से सम्बन्ध नहीं था।* उसका

* जनवरी, १९२८, में गांधीजी ने 'फेडरेशन आव इन्टरनेशनल फेलोशिप्स' (अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री-संघ) के समक्ष कहा था—"बहुत दिनों के अध्ययन और अनुभव के बाद मैं इन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ (१) सभी धर्म सत्य होते हैं, (२) सभी धर्मों में कोई-न-कोई भूल या कमी अवश्य होती है, (३) सभी धर्म मेरे लिये लगभग उतने ही प्यारे हैं जितना मेरा अपना हिंदू धर्म। दूसरे धार्मिक विश्वासों के लिये भी मेरे मन में उतना ही सम्मान है, जितना अपने धार्मिक विश्वास को

आधारभूत सम्बन्ध उनके नैतिक नियम में दृढ़ विश्वास से था, जिसे वह सत्य या प्रेम का नियम कहते थे। उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा एक ही वस्तु है या एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, इसीलिये वे इन शब्दों का एक-दूसरे के लिये प्रयोग करते रहते हैं।

चूँकि गांधीजी हिंदू धर्म की आत्मा को समझने का दावा करते हैं, इसलिये वे उन सब बातों को अस्वीकार कर देते हैं जो उनकी हिन्दू धर्म की आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खातीं। इन्हें वे क्षेपक या बाद की बढ़ाई हुई बातें कहकर पुकारते हैं। उन्होंने कहा है—"मैं किसी भी ऐसे पुराने विश्वास या प्रचलन का गुलाम बनने से इन्कार करता हूँ जिसे मैं समझ नहीं सकता या जिसका मैं नैतिक आधार पर समर्थन नहीं कर सकता।" इसलिये व्यवहार में गांधीजी अपने चुने हुए मार्ग का अनुसरण करने, अपने को परिवर्तित कर परिस्थिति के अनुकूल बनाने और अपने जीवन तथा कर्म सम्बन्धी अध्यात्म का विकास करने में पूर्ण स्वतंत्रता से काम लेते हैं।

ऐसा करते हुए यदि उन्हें किसी बात का ध्यान रहता है तो केवल नैतिक नियम का, जैसा कि वह उनकी समझ में

लिये। इसलिये धर्म-परिवर्तन की कल्पना असम्भव है। औरों के लिये हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिये कि हे प्रभु, उन्हें अपने उच्चतम विकास के लिये जितने भी प्रकाश और सत्य की आवश्यकता है वह सब तू उन्हें दे।"

जिसमें सभी जातियाँ पूर्ण सामंजस्य के साथ जीवनयापन करेंगी। ऐसे भारत में छुआछूत और मादक पदार्थों का शाप नहीं होगा, स्त्रियों को पुरुषों के ही समान अधिकार मिलेंगे।... यह है वह भारत जिसके स्वप्न देखा करता हूँ।"

गांधीजी को हिन्दू जाति में जन्म लेने का गर्व था। उन्होंने हिन्दू धर्म को एक प्रकार का विश्वव्यापक रूप देना चाहा और सत्य की सीमा में सभी प्रकार के मों को सम्मिलित कर लिया। उन्होंने अपने पूर्वजों से पाई हुई सांस्कृतिक सम्पत्ति को संकुचित करना नहीं चाहा। उन्होंने लिखा है—"भारतीय संस्कृति न तो पूर्ण रूप से हिंदू है, न मुस्लिम, न कोई और। वह इन सबका मेल है।" उन्होंने यह भी कहा,—"मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृतियाँ मेरे घर के पास जितनी भी संभव हो उतनी स्वतंत्रता के साथ उड़ती रहें, किंतु मैं इस बात के लिये तैयार नहीं कि उनमें से कोई मुझे उड़ा ले जाय। मैं दूसरों के घर में विना अधिकार प्रवेश करनेवाले व्यक्ति या भिखारी या दास के रूप में रहने को तैयार नहीं।" आधुनिक विचारधाराओं में पड़कर गांधीजी ने कभी भी अपनी जड़ों को हिलने नहीं दिया और उन्हें मजबूती के साथ पकड़े रक्खा।

आत्मिक एकता

इसलिये उन्होंने लोगों की आत्मिक एकता को पुनः स्थापित करने, पश्चिमी रंग में रँगे हुए उच्च स्तर के लोगों और जनता के बीच की दीवार को गिराने, पुरानी जड़ों के सजीव तत्त्वों

को ढूँढ़कर उन्हें शक्तिशाली बनाने और जनता को उसकी मूर्च्छा तथा अवरुद्ध अवस्था से निकाल कर कर्मठ बनाने का कार्य आरम्भ किया। उनके एकमुखी मार्ग और बहिर्मुखी स्वभाव को देखकर लोगों की जो खास धारणा होती थी वह यह थी कि उन्होंने अपने को जनता में लीन कर दिया है, उसकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिला दिया है और केवल भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के असहायों और निर्धनों के साथ तादात्म्य की उनमें एक आश्चर्यजनक भावना है। पददलितों के उत्थान की उनमें जो उत्कट अभिलाषा थी उसके सामने उनके लिये धर्म तक गौण बन जाता था। "जिस देश के लोग अधभूखे हों उसका न कोई धर्म हो सकता है, न कोई कला, न कोई संगठन।" "जो भी चीज भूखों मरती लाखों जनता के लिये उपयोगी हो सकती है, वही मेरी दृष्टि में सुन्दर है। उन्हें हमें पहले जीवन की सबसे आवश्यक चीजें देनी चाहिये, फिर तो जीवन की सब शोभाएँ और अलंकार बाद में आ ही जायँगे।"..."मैं ऐसी कला और ऐसा साहित्य चाहता हूँ जो लाखों से बोल सके।" ये लाखों असहाय और अभागे सदा उनके मस्तक में चक्कर काटते रहते थे और ऐसा लगता था जैसे उनकी सारी विचारधारा उन्हींके चारों ओर घूमती रहती है। "लाखों के सामने दो ही विकल्प हैं—या तो निरन्तर चौकीदारी या चिरनिद्रा।" वह कहते थे कि मेरी आकांक्षा "हर आँख से हर आँसू को पोंछ डालना है।"

इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि इस आश्चर्यजनक जीवनी-शक्तिवाले व्यक्ति ने—जो आत्म-विश्वास और असाधारण ढंग के बल से ओतप्रोत था, और जो प्रत्येक व्यक्ति की समानता तथा स्वाधीनता का हामी था और जो इन सब बातों को निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति की दृष्टि से देखता था—भारत के जनसाधारण का मुग्ध कर लिया और उन्हें एक चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। लोगों को ऐसा लगता था जैसे यह व्यक्ति भूत और भविष्य को जोड़नेवाली एक कड़ी है और उसने नीरस वर्त्तमान को भावी जीवन और आशाओं तक पहुँचने की सीढ़ी बना दिया है। ऐसा केवल जनता को ही नहीं लगा, बल्कि सुशिक्षित विद्वानों और दूसरे लोगों को भी अनुभव होता था—यद्यपि उनके चित्त सदा चिंता और भ्रम से भरे रहते थे और उन्हें जन्म-जन्मान्तर से चली आई परम्पराओं को छोड़ना अधिक कठिन था। इस प्रकार उन्होंने केवल अपने अनुयायियों में ही नहीं, बल्कि अपने विरोधियों और उन तटस्थ लोगों में भी—जो यह निश्चय ही नहीं कर पाते थे कि उन्हें क्या सोचना और क्या करना है—एक जबर-दस्त मनोवैज्ञानिक क्रांति उत्पन्न कर दी।

कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभुत्व था और वह एक विचित्र प्रकार का प्रभुत्व था, क्योंकि कांग्रेस एक क्रियाशील, विद्रोही और बहिर्मुखी संस्था थी, जिसमें जुदे-जुदे मतों के लोग थे और जिसे इधर या उधर ले जाना आसान नहीं था। अकसर गांधी-

जी दूसरों की इच्छाएँ पूरी करने के लिये अपना आग्रह कम कर देते थे, और कभी-कभी तो प्रतिकूल निर्णय भी स्वीकार कर लेते थे। किसी-किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वे टस-से-मस नहीं होते थे और अकसर उनमें और कांग्रेस में मतभेद हो जाता था। फिर भी वे सदा भारत की स्वतंत्रता और संघर्षशील राष्ट्रीयता के प्रतीक थे और जो लोग मातृभूमि को दास बनाये रखने की चेष्टा करते थे उनके वे कट्टर विरोधी थे। इसी प्रतीक के रूप में जनता दूसरी बातों में असहमत होती हुई भी उन्हें घेरे रहती थी और उनका नेतृत्व स्वीकार करती थी। जब कोई क्रियात्मक संघर्ष नहीं चलता होता था तब तो कभी-कभी लोग उनका नेतृत्व स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु जब संघर्ष अनिवार्य हो जाता था तब सबसे अधिक महत्ता उन्हेंही दी जाने लगती थी और अन्य बातें गौण बन जाती थीं।

जन-आन्दोलन

स्मरण रहे कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, अन्य सभी राष्ट्रीय आन्दोलनों की भाँति, धनिक वर्ग का आन्दोलन था। वह उन्नति के एक, स्वाभाविक और ऐतिहासिक क्रम का द्योतक था और उसे मजदूर-वर्ग का आन्दोलन कहना या इस नाम से उसकी आलोचना करना ठीक नहीं। गांधीजी इस आन्दोलन का और उससे सम्बंधित भारतीय जनता का बड़े ही उत्तम प्रकार से प्रतिनिधित्व करते थे और इस दृष्टिकोण से वह जन-साधारण की आवाज बन गये थे। वह सदा अपने को राष्ट्रीय

विचार-धारा की सीमा के भीतर रखकर ही कार्य किया करते थे, किन्तु जो आग उनके अन्तरतम में हर समय जलती रहती थी वह थी जनता को ऊँचा उठाने की आकांक्षा। इस दृष्टि से वह सदा राष्ट्रीय आन्दोलन से आगे रहे और उसे उन्होंने धीरे-धीरे—स्वयं उसीकी विचारधारा की सीमा के भीतर—इस नई दिशा में मोड़ा। अकेले भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार की आर्थिक घटनाओं ने बड़े जोरों से भारतीय राष्ट्रीयता को महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधारों की ओर ढकेला और आज वह एक नई सामाजिक विचारधारा के तट पर कुछ-कुछ अनिश्चित-सी खड़ी है।

किंतु गांधीजी ने भारत और भारतीय जनता को जो कुछ मुख्य रूप दिया वह कांग्रेस के जरिये शक्तिशाली आंदोलन चलाकर ही दिया। देशव्यापी कार्रवाई द्वारा उन्होंने लाखों को नये साँचे में ढालना चाहा और इस कार्य में उन्हें बड़ी सफलता मिली। उन्होंने पतित, कायर और निराश जनता को, जिसे अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये सभी प्रमुख दल पीड़ित और पददलित करते आये थे और जिनमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी, ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिये त्याग करने की सामर्थ्य आ गई। उन्होंने उसे इस योग्य बना दिया कि वह राजनैतिक

और आर्थिक समस्याओं पर विचार कर सके, यहाँ तक कि गाँव-गाँव और बाजार-बाजार में इन विचारधाराओं और आशाओं की चर्चाएँ होने लगीं। यह एक आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। इसके लिये समय भी अनुकूल था और परिस्थितियों तथा विश्व की घटनाओं ने इस परिवर्तन को लाने में योग दिया। किंतु परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिये एक महान् नेता की आवश्यकता होती है। वह नेता हमें गांधी के रूप में मिला, जिसने हमें इन अनेक बंधनों से मुक्त कर दिया—जिन्होंने हमें जकड़ रक्खा था और हमारे मस्तिष्क को निरर्थक बना दिया था। भारतीय जनता के हृदय पर छा जानेवाली मुक्ति और हर्ष की उस महान् अनुभूति को हममें से जिन लोगों ने भी महसूस किया वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। गांधीजी ने भारत के उत्थान में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी भाग लिया, क्योंकि उन्हें पराधीन परिस्थितियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना आता था और वे जनता के हृदय को छू सकते थे। इसके विपरीत बहुत-से अधिक उन्नत विचारवाले दल यों ही लटकते रह गये, क्योंकि वे अपने को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना सके और इसलिये जनसाधारण में ठोस सहयोग की भावना जाग्रत नहीं कर सके।

जनता का उत्थान

यह बिलकुल सत्य है कि राष्ट्रीय क्षेत्र के धरातल पर कार्य

करते समय गांधीजी वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से कुछ नहीं सोचते, बल्कि वर्गीय मतभेदों को दूर करने का ही प्रयत्न करते हैं। किंतु, उन्होंने जो कुछ भी किया और जनता को सिखाया है, उससे सदा ही बड़ी जबरदस्त जनजाग्रति हुई है और सामाजिक समस्याओं को महत्ता मिली है। इसके अलावा उन्होंने जरूरत पड़ने पर कुछ विशेष वर्गों को नुकसान पहुँचाकर भी जनता को ऊपर उठाने पर बार-बार जो जोर दिया, उससे राष्ट्रीय आंदोलन के जन-पक्ष में एक जबरदस्त परिवर्तन हुआ।

निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस सम्राज्यवाद के विरोध में एक संयुक्त मोर्चे का काम करती रही है।

गांधीजी और कांग्रेस का मूल्य उनके द्वारा अपनाई जानेवाली नीतियों और किये जानेवाले कार्यों के आधार पर ही आँका जाना चाहिये। किंतु, इसमें व्यक्तित्व काम करता है और इन नीतियों तथा कामों को अपने रंग में रँग देता है। जहाँ तक गांधीजी जैसे अत्यन्त विशिष्ट व्यक्ति का सवाल है, उन्हें समझने और उनका मूल्य आँकने के लिये व्यक्तित्व का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अंग्रेज पत्रकार श्री जार्ज स्लोकम्ब ने, जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले संसार-भर के साधारण और असाधरण व्यक्तियों का अनुभव है, अपनी एक नई पुस्तक में गांधीजी का उल्लेख किया है। वह प्रकरण रोचक और उद्धृत करने योग्य है। उसमें लिखा है—

"इतना ज्यादा ईमानदार और सच्चा आदमी मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। आत्म-प्रशंसा, अहंकार, अवसरवादिता और महत्त्वाकांक्षा की ओर उसका बहुत ही कम झुकाव है, यद्यपि ये बातें अधिक या कम मात्रा में इस संसार के अन्य सभी महान् राजनैतिक व्यक्तियों में पाई जाती हैं।"—हम किसी अंग्रेज पत्रकार के मत से अधिक प्रभावित होने की जरूरत नहीं और न किसी के हृदय की सचाई के बल पर उसकी अशुद्ध नीति या भ्रमपूर्ण विचारों का ही समर्थन किया जा सकता है; किंतु स्थिति यह है कि यही मत भारत के लाखों व्यक्तियों का है। जो शब्द बिना सोचे-समझे सभी साधारण राजनीतिज्ञों के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हीं शब्दों में गांधीजी जैसे अनोखे और अद्वितीय व्यक्तित्व का उल्लेख करना एक बड़ी ही ऊपरी आलोचना है। हम भारतीयों का गांधीजी से अक्सर मतभेद रहा है, अब भी कई बातों में हम उनसे सहमत नहीं होते और कभी-कभी पृथक् मार्ग भी ग्रहण कर लेते हैं, किंतु उनके साथ और उनकी अधीनता में रहकर एक महान् हित के लिये कार्य करना हमारे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य रहा है। हमारे लिये वह भारत की आत्मा और मर्यादा के प्रतीक रहे हैं। लाखों संतप्तों को—अपने अनगिनत बोझों से मुक्त होने की लालसा की प्रतिमूर्त्ति रहे हैं और ब्रिटिश सरकार या किसी और के द्वारा उनका अपमान किया जाना मानों भारत और भारतीय जनता का अपमान रहा है।

विश्व-संघ

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा दिखाई जिससे हमारी निराशा और कटुता की भावनाएँ कम हो गईं। ये भावनाएँ बिलकुल समाप्त तो नहीं हुईं, लेकिन मेरी जानकारी में ऐसा कोई दूसरा राष्ट्रीय आंदोलन नहीं जो घृणा से इतना मुक्त रहा हो जितना कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन रहा है। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर साथ ही वह यह भी महसूस करते थे कि उन्हें भारत ही नहीं, बल्कि सारे संसार को संदेश देना है। उन्हें विश्व-शांति की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी। इसलिये उनकी राष्ट्रीयता में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था। वह राष्ट्रीयता आक्रमणकारी लालसा से पूरी तरह से मुक्त थी। भारत की स्वतंत्रता के आकांक्षी होने के कारण गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि एक-दूसरे पर निर्भर रहनेवाले राज्यों का विश्व-संघ ही एकमात्र सच्चा उद्देश्य है, चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो। उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाय, लेकिन अगर जरूरत पड़े तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिये वह सारे-का-सारा नष्ट हो जाय। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी ही होनी चाहिये।" और—"मैं सारे विश्व के दृष्टिकोण से सोचना चाहता हूँ। मेरे देश-प्रेम में

साधारण रूप से सारी मानव-जाति का हित सम्मिलित है। इसलिये भारत के प्रति मेरी सेवा में मानव-जाति की सेवा शामिल है।...विश्व-राज्यों का लक्ष्य पृथक स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि स्वेच्छित अन्तर-निर्भरता है। संसार के उन्नत विचारवाले लोग आज एक-दूसरे से लड़नेवाले पूर्णतः स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा नहीं रखते, बल्कि मित्रतापूर्ण और एक-दूसरे पर निर्भर राज्यों का संघ चाहते हैं। हो सकता है कि इस आकांक्षा की पूर्त्ति अभी दूर हो। मैं अपने देश के लिये कोई बहुत बड़ा दावा नहीं करना चाहता, किंतु स्वतंत्रता के बदले अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर-निर्भरता का समर्थन करना मेरी समझ में कोई बड़ा अथवा असंभव कार्य नहीं। मैं चाहता हूँ कि हममें पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने की योग्यता तो हो, लेकिन उसकी डींग हाँकने की नहीं।"

—o—

मेरे संस्मरण

डा० भगवानदास

मेरी उम्र अस्सी साल की हो चुकी है। इसलिये हो सकता है कि मेरी स्मृति ठीक-ठीक मेरा साथ न दे रही हो। फिर भी जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने पहले-पहले महात्माजी को सन् १९१६ ई० के फरवरी महीने के प्रथम सप्ताह में देखा था, जबकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज ने किया था। शिलान्यास का यह अनुष्ठान चार फरवरी को संपन्न हुआ था। तो क्या महात्माजी इस अवसर पर उपस्थित थे? नहीं। कम-से-कम मुझे तो स्मरण नहीं होता कि मैंने उस बड़े जलसे में, जिसे लार्ड हार्डिंज ने एक छोटा-मोटा दिल्ली-दरबार बनाया था—उन्हें वहाँ देखा था। किन्तु, इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि उसी महीने की आठवीं तारीख को गांधीजी वहाँ उपस्थित थे, जब कि उनसे भयभीत होकर बहुत से राजे-महाराजे और उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी वहाँ से भाग खड़े हुए थे। यह किस तरह हुआ? बात यह थी कि मालवीयजी उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिये धन-संग्रह में लगे हुए थे। उन्होंने एक सभा का आह्वान किया था। उस सभा में अलवर, नाभा, बीकानेर, धार तथा अन्य दो एक राज्यों के नृपति, दरभंगा के स्वर्गीय महाराजा

रमेश्वर सिंह, बनारस डिवीजन के कमिश्नर और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा अन्यान्य विख्यात व्यक्ति उपस्थित थे। मालवीयजी ने एक-एक करके प्रत्येक विख्यात वक्ता से बोलने और विश्वविद्यालय के लिये धनयाचना करने का अनुरोध किया। दुर्भाग्यवश उन्होंने गांधीजी से भी बोलने के लिये कहा। गांधीजी बोलने के लिये उठे और भाषण के प्रसंग में उन्होंने राजों, महाराजों, लखपती जमींदारों और उस समय की ब्रिटिश सरकार की तुलना बन्दरों के झुंड से की, जो गुजरात में फसल के पकने पर खेतों पर धावा बोल देते हैं और उन्हें भगाने के लिये ग्रामवासी किसान और उनके परिवार के सारे लोग—स्त्री, बच्चे, सब-के-सब—उन खेतों में दौड़ पड़ते हैं और किरासन तेल का कनस्तर तथा इसी तरह की और दूसरी चीजों को जोर-जोर से पीटने लगते हैं, ताकि बन्दर भाग जायँ। इसी तरह गांधीजी और उनके सहकर्मी अन्यान्य देशभक्तों ने भी इन बन्दरों के भगाने के लिये ढोल पीटना शुरू किया है। यह सुनते ही उपस्थित राजों-महाराजों की मण्डली में भगदड़ मच गई। मालवीयजी ने जोर से चिल्लाकर गांधीजी से कहा—'आप क्या कह रहे हैं?' जिस पर गांधीजी ने उत्तर दिया—'मैंने क्या कहा है? क्या मैंने सत्य-भाषण नहीं किया है? क्या आप और आपके साथी दूसरे कांग्रेसी नेता यही बात, जरा अधिक नम्रता के साथ कहने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं?" यह सुन कर अंगरेज कमिश्नर, जो मेरे समीप ही बैठा हुआ था,

जोर से बड़बड़ाने लगा—"इस आदमी को इस तरह वाहियात बात बोलने से रोक देना चाहिये" और मालवीयजी उन राजों-महाराजों के पीछे दौड़े जो वहाँ से भगे जा रहे थे। आप जोर-जोर से चिल्लाकर उन्हें कह रहे थे--"श्रीमान्! श्रीमान् राजन्यवृन्द! आप लोग कृपया लौट चलें! हमलोगोंने उन्हें रोक दिया है!" इत्यादि। किन्तु, वे बेचारे इतने आतंकित हो उठे थे कि उनमें से कोई भी नहीं लौटा। मालवीयजी दौड़-कर सच्चे देशभक्त और मेरे प्रिय बन्धु शिवप्रसादगुप्त की गाड़ी के पास गये और गाड़ी के ड्राइवर को महाराजा बनारस की कोठी में गाड़ी ले चलने के लिये कहा जहाँ अलवर-नरेश ठहरे हुए थे। दुर्भाग्यवश वह मुझे भी घसीटकर अपने साथ लेते गये। यह मेरा सौभाग्य समझिये कि उन्होंने मुझे गाड़ी की पिछली सीट पर छोड़ दिया, वरना उस कड़ाके के जाड़े की रात में मैं ठिठुरकर मर जाता। शिवप्रसादजी ने अपना गरम ओवरकोट भी वहीं गाड़ी में छोड़ दिया था, जिससे मालवीयजी ने उस रात की भीषण सर्दी से अपनी शरीर-रक्षा की। स्वयं शिवप्रसादजी के लिये तो उनके स्थूल शरीर की चर्बी ही--जो उनके सारे शरीर पर समान रूप में फैली हुई थी और मोटी रजाई का काम कर रही थी—सर्दी से उनकी रक्षा कर रही थी। हाय! बनारस आज उनकी प्रीतिकर उपस्थिति का अभाव कितना महसूस कर रहा है और सारा देश आज उनके मौलिक विचारों से वंचित हो गया है! समाचारपत्र,

सभा-समिति और अदालतों में हिन्दी को प्रधानता दिलाने के लिये सबसे पहले उन्होंने ही उत्साह दिखाया था; गांधीजी या नागरी प्रचारिणी सभाओं ने नहीं। काशी में जो भारतमाता का भव्यमन्दिर है; उसके उद्भावक भी वही थे। सन् १९३६ के अक्टूबर में गांधीजी ने इस मन्दिर का उद्घाटन किया था। उस अवसर पर उनके साथ खाँ अब्दुल. गफ्फार खाँ, डा० विधान चन्द्र राय, पं० जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टंडन तथा सब प्रान्तों के सभी सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुष प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे।

इसके बाद फिर मैं कब महात्मा गांधी से मिला था? सन् १९२० में? नहीं.....सन् १९१६ के दिसम्बर में कांग्रेस अधिवेशन के समय लखनऊ में। मैं वहाँ शिवप्रसादगुप्त के साथ एक छोटे से खीमे में ठहरा हुआ था। मौसम बहुत खराब था। सुबह में ओसकण जमे हुए हिमकण के रूप में दिखाई पड़ते थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने—जिन्हें मैंने पहली बार देखा था—भाषण किया था और लोकमान्य तिलक ने भी। उन्हें देखने का भी मेरे लिये यह पहला ही मौका था। कांग्रेस के इस अधिवेशन में ही एक अशुभ क्षण में हिन्दू और मुसलमान के बीच व्यवस्थापिका-परिषदों में स्थान-संरक्षण के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ, जो इन संस्थाओं से एक-एक कदम आगे बढ़ता हुआ देश को दो भागों में विभक्त कर देने की भयानक स्थिति पर पहुँच गया। मैंने महात्माजी को एक दिन सुबह में

अपने झोपड़े में देखा। बाहर से झाँककर देखा, वह सरकारी गजट पढ़ रहे थे। मैं तब तक चुपचाप बैठा रहा जब तक गजट के पन्ने उलटना उन्होंने बन्द नहीं किया। उस समय उनके साथ प्राइवेट सेक्रेटरी नहीं रहा करते थे। मैं बिना पूर्व सूचना दिये ही यह कहते हुए कि 'क्या मैं आ सकता हूँ ?' अंगरेजी या हिन्दी में यह मुझे याद नहीं, उस झोपड़े के द्वार से अंदर प्रवेश कर गया। उन्होंने बिना कुछ बोले ही सिर झुकाकर अपनी अनुमति प्रकट की। उनकी आँखें अब भी गजट के पन्नों पर निबद्ध थीं। गजट पढ़ना बंद करके जब उन्होंने मेरी तरफ देखा, मैंने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और उसका उत्तर उन्होंने भी उसी रूप में दिया। तब मैंने पूछा—"महात्मा जी ! कुछ समय पहले आपने एक गश्ती चिट्ठी जारी की थी, जिसमें आपने देश को सलाह दी थी कि वह ब्रिटिश सरकार के साथ असयोग करे और खादी इत्यादि को अपनावे। आपकी यह सलाह 'आपत काल' के लिये या 'संपत काल' के लिये ?" उन्होंने उत्तर दिया "आपत काल !" मैंने कहा,—"अब मुझे कुछ अधिक पूछना नहीं है," इसके बाद मैं नमस्कार करके वहाँ से चला आया। उसी दिन संध्या को मैंने अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में गांधीजी को तथा सुरेन्द्रनाथ, लोकमान्य, मोतीलाल नेहरू, एनी बेसेंट, लाजपत राय और कांग्रेस के प्रधान मंत्री तथा लखनऊ के वकीलों के नेता गोकर्णनाथ मिश्र तथा अन्यान्य नेताओं को भी देखा। मैं बाहर से ही झाँककर

खीमे के भीतर की बैठक की कार्यवाही देख रहा था; क्योंकि मैं अ० भा०-कां० कमेटी का सदस्य नहीं था। इसी समय पं० मोतीलाल नेहरू या गोकर्णनाथ मिश्र ने मुझे इस तरह झाँकते हुए देख लिया और मुसकराकर मुझे अंदर आने का इशारा किया। मैं अन्दर चला आया और एक कोने में बैठ गया। उस समय मैंने महात्माजी को बैठे हुए सदस्यों की पहली पंक्ति के पीछे खड़ा हुआ पाया। वह ठीक एक काठियावाड़ी की तरह पोशाक पहने हुए थे,......जो चन्द सालों के अन्दर ही बिलकुल बदल गई, जिस तरह पिछले कुछ वर्षों में सभी चीजें बदल गई हैं। उनकी उस समय की पोशाक थी चूड़ीदार पाजामा, प्राय: घुट्टियों तक लटकता हुआ बिना बटन का अंगा और खादी की बहुत बड़ी पगड़ी। एक क्षण तक मैं उन्हें पहचान नहीं सका, क्योंकि सुबह में मैंने उन्हें नंगे सिर, जिस पर लंबी शिखा फहरा रही थी और जिसका उन्होंने बाद में चलकर परित्याग कर दिया, सफेद खादी का कुर्त्ता पहने और उस भीषण सर्दी में भी एक चादर ओढ़े हुए देखा था। ठीक उसी समय दो तालुकेदार खूब तड़क-भड़क की पोशाक में वहाँ पहुँचे और गांधीजी को एक तरह से धक्का देते हुए आगे बढ़े। उनमें एक ने कहा—"मियाँ, यह कौन देहाती गँवार यहाँ आ गया है। दूसरे ने चुपके से उसके कान में कहा "अरे! महात्मा गांधी।" इसपर पहला व्यक्ति हक्काबक्का होकर गांधीजी को देखने लगा और दोनों चुपके से एक दूसरे कोने में खिसक गये। मैंने ऊपर

कहा है एनी वेसेंट भी वहाँ उपस्थित थीं। उस साल थियोसोफिकल सोसाइटी की सालाना बैठक लखनऊ में ही हुई थी। घटनाओं की दौड़ में वर्त्तमान पीढ़ी इस बात को भूल जाती है कि गांधीजी ने नहीं, एनी वेसेंट ने भारतवर्ष को पहले-पहल 'निष्क्रियप्रतिरोध और कानून की भद्र अवज्ञा' की शिक्षा दी थी। उन्होंने होमरूल (स्वराज) आन्दोलन चलाया था, जिसके लिये उदार व्रिटिश भारतीय सरकार से उन्हें नजर-वंदी का पुरस्कार मिला था। उनके साथ और दो व्यक्ति नजरवंद हुए वे। श्रीमती वेसेंट जिस वँगले में नजरवंद थीं, उसके ऊपर तीनों ने होमरूल का झंडा फहराया था। पुलिस ने जितनी ही वार उस झंडे को नीचे उतार दिया, उतनी ही वार इन लोगों ने फिर उसे फहराया। तीन महीने के बाद वे तीनों व्यक्ति छोड़ दिये गये। सरकार के इस कार्य का प्रतिवाद करने के लिये जो वड़ी सभा वनारस के टाउन हाल में हुई थी, उसका सभापतित्व मैंने ही किया था। इस उद्देश्य से की गई देश में यह पहली सभा थी। इसके वाद तो सारे देश में इस तरह की सभाओं की वाढ़-सी आ गई।

इसके बाद सन् १९२० के नवम्बर में वनारस में मैंने महात्माजी को देखा था। सन् १९१९ की १३ वीं अप्रैल को अमृतसर में जो जलियानवाला हत्याकांड हुआ था, उसके वाद अ० भा० कांग्रेस कमेटी की एक बैठक बुलाई गई थी। इस बैठक में कांग्रेस के परिवर्तित उद्देश्य 'पूर्ण स्वराज्य' और 'असह-

योग' के कार्यक्रम पर विचार करना था। यह बैठक १९२० के फरवरी में हुई थी, मुझे ठीक याद नहीं है। इस बैठक में लोकमान्य तिलक तथा कांग्रेस के अन्यान्य प्रमुख नेता उपस्थित थे। अ० भा० कां० कमेटी का सदस्य न होने पर भी मुझे उस बैठक में शामिल होने की अनुमति मिल गई थी। लाला लाजपत राय भी उपस्थित थे। उन्होंने अपने नागपुरवाले भाषण को संक्षेप में, किन्तु प्रभावशाली ढंग से दुहराया। इस सभा में नागपुर कांग्रेस के प्रस्तावों को स्वीकृति मिली। जहाँ मैं ठहरा हुआ था, उसके पास ही एक उद्यान-गृह में लोकमान्य ठहरे हुए थे। मैं उनसे एक दिन सवेरे मिला। वह सहन पर बिछी हुई एक दरी पर बैठे हुए थे। मैं यथोचित अभिवादन के बाद उनके सामने बैठ गया। वार्त्तालाप के प्रसंग में भारतीय-दर्शन का विषय छिड़ गया। यद्यपि यह मेरे विशेष अध्ययन का विषय था और उनका प्रिय विषय था वैदिक गवेषण, गणित और ज्योतिष्। फिर भी उन्होंने भारतीय दर्शन के विषय में कुछ ऐसी बातें बताईं, जो मेरे लिये बिलकुल नई थीं। फिर उनके विलक्षण ग्रन्थ 'गीता रहस्य' के सम्बन्ध में चर्चा चल पड़ी। इस ग्रन्थ का प्रणयन उन्होंने अपने कारावास-जीवन के आठ वर्ष की कठोर तपस्या के फलस्वरूप किया था। मैंने लोकमान्य से पूछा—"क्या आप पहले कभी बनारस आये थे?" —"हाँ, बहुत दिन पहले"—उन्होंने उत्तर दिया "उस समय मैं एक नवयुवक था और गंगा को तैरकर आरपार कर जाता था।

उन दिनों में एक हट्ठा-कट्ठा नवयुवक था और बहुत-से भारतीय खेल-कूदों और कसरतों में उस्ताद था।"

इसी दिन संध्या को टाउन-हॉल के मैदान में एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा हुई थी, जिसमें सभापति का आसन मैंने ग्रहण किया था। लोकमान्य के सम्मानार्थ यह सभा बुलाई गई थी। इस सभा में लोकमान्य के मित्र और सहकर्मी प्रसन्नमूर्ति खापर्डे, नरसिंह राव केलकर, करन्दीकर तथा और लोग भी उपस्थित थे। सभा के प्रधान वक्ता लोकमान्य थे। अपने भाषण में उन्होंने सहयोग-प्रति सहयोग (Responsive Co-operation) और असहयोग-प्रति असहयोग नीति की व्याख्या की और देश के लिये इसे ही समुचित नीति और कार्यक्रम बताया। मैं भी इसी नीति का बराबर से कायल रहा हूँ। दूसरे दिन संध्या को जब मैंने श्रीमती बेसेंट से लोकमान्य के भाषण की चर्चा की और लोकमान्य ने भाषण के प्रसंग में महाभारत के जिन प्राचीन श्लोकों को उद्धृत किया था, उनका जिक्र किया, तो श्रीमती बेसेंट ने अपनी आपत्ति प्रकट की। वे श्लोक यों हैं —

"शठं प्रति शठं कुर्यात्, सादरं प्रति सादरम्।
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः, मायाचारो मायया वाञ्छनीयः।"

अर्थात् "जो तुम्हारे साथ जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा व्यवहार करो। जो अच्छा व्यवहार करे उसके साथ अच्छा और बुरे के साथ बुरा व्यवहार करो। लाभदायक कार्यों में सरकार के साथ सहयोग करो और अनिष्टकर कार्यों में असहयोग।

करने के विरुद्ध था। छात्रों को राजनीति से पृथक रहने की भी मैंने सलाह दी थी। अलीगढ़ के प्रबन्धकों ने गांधीजी से कहा कि पहले आप काशी विश्वविद्यालय के अपने सहधर्मियों को कालेज छोड़ने के लिये कहें। गांधीजी वहाँ से दौड़े हुए बनारस पहुँचे। मालवीयजी ने उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय के अहाते में या कालेज-भवन में सभा करने की अनुमति नहीं दी। इससे पहले उन्होंने अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्यों को कालेज-भवन में रहने देना भी अस्वीकार कर दिया था। हिन्दू कालेज के खेलने के मैदान से सटी हुई जमीन पर छात्रों की एक सभा हुई। उस सभा में कालेज के प्रायः सभी छात्र और कई सौ नागरिक उपस्थित थे। मैं सभा-मंच के एक कोने में पं० मोती लाल नेहरू, अबुल कलाम आजाद तथा अन्य नेताओं के पीछे बैठा था। गांधीजी के भाषण का सारांश इस प्रकार था; "कोई यह न सोचे कि मैं जान-बूझकर आपलोगों को बुरे मार्ग पर बहका रहा हूँ। मैं चार पुत्रों का पिता हूँ, और यह जानता हूँ कि पुत्र के प्रति पिता के क्या कर्त्तव्य हैं और आपलोग मेरे लिये पुत्र के सामान हैं।" इसी समय इङ्गलैंड के राजकुमार एडवर्ड (इस समय ड्यूक ऑफ विंडसर) को हिन्दू विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्रदान की जानेवाली थी। आचार्य कृपलानी ने प्रायः ३० छात्रों के साथ कालेज से असहयोग किया था। बनारस की जनता को राजकुमार एडवर्ड का बहिष्कार करने का उपदेश देने के कारण मैं आचार्य कृपलानी तथा और लोग के

स्पर्श करने के लिये भी वे उतावले हो रहे थे और ऐसा करने में असमर्थ होने पर अपनी लम्बी लाठियों को लिये हुए जब आगे की ओर बढ़ते थे, तब लाठियों के सिरे से गांधीजी का और मेरा सिर फूटते-फूटते बचता था। यदि हाथ या पाँव से स्पर्श न हो सके, तो कम-से-कम लाठी के सिरे से भी होना चाहिये! ऐसा है हिन्दुओं का अन्धविश्वास और उनकी अनुशासन-हीनता। क्या कांग्रेस ने इन दोषों के परिहार के लिये कुछ किया है? खेद के साथ कहना पड़ता है कि यदि कुछ किया भी है तो बहुत कम।

फिर १९२१ के जून में बम्बई में अ० भ० कां० कमिटी की बैठक में गांधीजी को देखा था। उस समय मैं बहैसियत सदस्य के बैठक में शामिल हुआ था। लोकमान्य उस समय परलोक-वासी हो चुके थे। मैंने उन्हें नहीं, उनकी प्रस्तरमूर्त्ति को सरदार-गृह में देखा जहाँ मैं शिव प्रसाद गुप्त के साथ ठहरा हुआ था। शौकत अली ने, जो लम्बाई में ६ फुट २ इंच और गोलाई में भी उतने ही थे, जलपान के समय कहा—“ये सब अच्छी चीजें जहाँ तक बन पड़े हम लोग खा डालें; कौन जाने फिर कई वर्षों तक हमें ये चीजें खाने को मिलेंगी या नहीं।’ आगे चलकर कराँची में उन्हें लम्बी कैद की जो सजा मिलनेवाली थी, उसका आभास उन्हें पहले ही मिल चुका था।

तीसरे पहर चौपाटी पर समुद्र के किनारे एक विराट् सभा हुई। देशबन्धु दास, मोतीलाल नेहरू, जयकर तथा अन्य

नेताओं के संक्षिप्त भाषण हुए। गांधीजी भी कुछ मिनटों तक बोले। उनका भाषण बराबर संक्षेप में और विषयानुकूल होता था। एक भी फाजिल शब्द नहीं और न शब्दाडम्बरपूर्ण या आलंकारिक भाषा में। विषय को स्पष्ट करने के लिये जितने शब्दों की आवश्यकता होती, ठीक उतने ही शब्दों का प्रयोग करते थे। विदेशी और स्वदेशी मिलों के बने हुए कपड़ों की होली जलाने का निश्चय किया गया। किन्तु, जलाने के लिये स्वदेशी कपड़ा लोग बहुत कम लाये थे और मेरे ख़याल से यह ठीक ही किया था। दूसरे दिन गांधीजी से मैं उनके वासस्थान पर मिला। अ० भा० कांग्रेस कमिटी के बहुत से सदस्य भी वहाँ उपस्थित थे। मैंने पूछा—"महात्माजी, औपनिवेशिक स्वराज्य का तो कुछ माने भी है, किन्तु 'स्वराज' शब्द का तो कोई अर्थ ही नहीं है या प्रत्येक व्यक्ति चाहे जैसा इसका अर्थ लगा ले सकता है। हिन्दू समझते हैं हिन्दू राज, मुसलमान समझते हैं मुसलमान-राज, जमींदार जमींदार-राज, पूँजीपति पूँजीवादी-राज, मजदूर मजदूर-राज और इसी तरह दूसरे लोग भी; और इन सबका अर्थ है एकता के बदले में, जिसका आप उपदेश करते हैं, भयंकर वर्गयुद्ध।" उन्होंने कहा—"यदि आप से कोई पूछे कि स्वराज का माने क्या है तो आप उसे कहिये—रामराज्य।" मैंने इसपर कहा—"किन्तु यह तो कम कठिन की व्याख्या और भी कठिन से करना होगा और यदि आप यह समझते हैं कि रामजी के राजमें सब लोग सुखी थे और कोई गरीब नहीं था,

तो यह एक वहुत बड़ी भूल है। प्रमाणस्वरूप मैंने वाल्मीकि-रामायण के कुछ दृष्टान्त भी उद्धृत किये। इसके बाद वह दूसरे सदस्यों की तरफ मुखातिब हुए और मैं वहाँ से चला आया।

फिर मैंने सन् १६२८ के नवम्बर में उन्हें देखा था। वह, कस्तूर वा, महादेव देसाई, मीरा वेन तथा अपने दल के दूसरे साथियों के साथ मेरे तथा मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रोप्रकाश के अतिथि थे और मेरे पुराने मकान 'सेवाश्रम' में ठहरे थे। गांधीजी के लिये भोजन का प्रबन्ध अलग किया गया था। उनका भोजन वहुत ही सादा और निश्चित समय पर होता था। किन्तु, कस्तूरवा और दूसरे लोग जो गांधीजी की उपस्थिति में चाय या कॉफी ग्रहण करने का साहस नहीं कर सकते थे, दूसरे कमरे में भोजन करते थे और वहीं इन पेय पदार्थों का समय-समय पर उपभोग करते थे। वनारस से गांधीजी मेरे आमंत्रण पर सदलवल चुनार गये। वहाँ एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें गांधीजी को सात सौ रुपये की एक थैली भेंट की गई। उस समय मैं चुनार में ही एकान्तवास कर रहा था। वहाँ मैंने पहले से ही गांधीजी के लिये एक वकरी का प्रबन्ध कर रक्खा था।

सन् १६२६ के वाद मैंने फिर उन्हें सन् १९३४ में देखा था। उस समय वनारस तथा अन्य नगरों में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। गांधी-इर्विन-समझौते की हाल ही में घोषणा की गई थी और गांधीजी ने पटने की एक कांग्रेस-मीटिंग में सत्या-

अह-आन्दोलन बन्द करने का आदेश दिया था। इसके कुछ समय बाद भी अ० भा० कांग्रेस कमिटी की एक बैठक बनारस में बुलाई गई। कमिटी के सभी सदस्य काशी-विद्यापीठ के भवन में ठहरे थे। उदार शिवप्रसाद गुप्त के सब मेहमान थे। सिर्फ अबुल कलाम आजाद एक होटल में ठहरे थे। अली-बन्धु कांग्रेस से अलग हो चुके थे, जिस तरह उनसे पहले मुस्लिम लीग के अध्यक्ष घोर अहंवादी मि० जिन्ना अलग हो चुके थे—वही जिन्ना, जिनका स्थान देश के अनिष्ट करने-वालों में अग्रगण्य है और जो उन सभी भयंकर कृत्यों के जनक हैं, जिनके कारण यह सुखी देश दुर्गति को प्राप्त होकर अन्त में दो खण्डों में विभक्त हो गया है। यह दूसरा अवसर था, जब कि मैंने सरदार वल्लभ भाई को देखा था। इससे पहले सन् १९२१ में लखनऊ में उन्हें देखने का मौका मिला था। सरदार सचिव की अपेक्षा प्रधान सेनापति होने के लिये अधिक उपयुक्त हैं। जनता ने उन्हें सरदार की जो पदवी दी है, वह ठीक है। गांधीजी के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति हृदय में धारण करते हुए भी अहिंसा के सम्बन्ध में बराबर उनका गांधीजी से मतभेद रहा। अबुल कलाम आजाद तो प्रत्यक्ष रूप में गांधीजी से इस विषय पर भिन्न मत रखते थे और साफ-साफ अपना मत प्रकट करते थे। कांग्रेस के अन्यान्य सदस्यों का व्यक्तिगत विश्वास भी ऐसा ही था, हालाँकि वे अपने विश्वास को प्रकट नहीं करते थे। वे सब लोकमान्य तिलक की नीति में

विश्वास करते थे जिसकी स्पष्ट घोषणा सब देशों के दण्ड-विधानों में और सभी देशों के पैगम्बरों और अवतारों द्वारा की गई है। आत्मरक्षा के लिये जो हिंसा की जाती है, वह 'हिंसा' नहीं 'दण्ड' है और हिंसा तथा दण्ड में बहुत भेद है। इसके बाद सन् १९३४ के कांग्रेस-अधिवेशन के पश्चात् गांधीजी ने इन्हीं सब कारणों से कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया।

सन् १९३४ के जून में काशीविद्यापीठ में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। इस साल आम की फसल बहुत अच्छी हुई थी। गांधीजी ने आम को लेकर भोजन के सम्बन्ध में अपना प्रयोग आरम्भ किया, किन्तु यह प्रयोग असफल रहा। संयोगवश गांधीजी को रात में दस्त आने लगे थे। मैंने दूसरे दिन प्रातः-काल बनारस के सभी नामी डाक्टरों को एकत्र किया। वे सब बिना किसी फीस के ही गांधीजी की चिकित्सा करने के लिये समुत्सुक थे। डाक्टरों ने उनके शरीर की परीक्षा की और बताया कि चिन्ता का कोई कारण नहीं। उनके संयत जीवन के सामने रोग को परास्त होना पड़ा। डाक्टरों की उपस्थिति में ही मेरे मुँह से निकल पड़ा—"महात्माजी कुपथ्य करते हैं।"

उन्होंने मेरे वाक्य का अर्थ ठीक तरह से न समझ कर कहा—"आप ऐसा कहते हैं!"

मैंने उन्हें बताया—"साधारण कुपथ्य नहीं। आप आधी-आधी रात तक लोगों से मिलते रहते हैं और फिर इसके दो घंटे बाद ही अपने सेक्रेटरी को निद्रा की हत्या करके उन्हें चिट्ठियाँ

लिखाने लग जाते हैं। यही कुपथ्य है, जिससे मेरा अभिप्राय था।" अब उनके खिन्न चेहरे पर मुसकुराहट खेलने लगी और सब लोग फिर पहले की तरह प्रसन्न हो उठे।

उस दिन संध्याकाल में मैंने प्रमुख कम्यूनिस्ट और सोशलिस्टों के एक प्रतिनिधिमण्डल से गांधीजी का परिचय कराया। इस प्रतिनिधिमण्डल में नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द तथा काशी विद्यापीठ के कुछ अध्यापक थे। मैंने महात्माजी से कहा—"इनमें हमारे कुछ श्रेष्ट कार्यकर्त्ता हैं; काशी विद्यापीठ के इनके छात्रों ने सभी प्रान्तों में रचनात्मक कार्य किये हैं; जेल और निर्वासन सहे हैं और देश को स्वराज के पथ पर अग्रसर करने में बहुत कुछ सहायता पहुँचाई है। आप इनकी बातों को सुनें और कांग्रेस नेताओं के साथ इनका जो मतभेद हो गया है, उसे स्पष्ट करने का इन्हें मौका दें।" सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट के बीच जो भेद है वह संकीर्ण होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। स्टालिन के शब्दों में—"काम के अनुसार मजदूरी" सोशलिज्म है और "जरूरत के मुताबिक मजदूरी" कम्यूनिज्म है। पहले सिद्धान्त की विजय हुई है और सोवियत रूस में भी बराबर इसी सिद्धान्त की विजय होगी। एक घंटे से अधिक समय तक गांधीजी और उक्त प्रतिनिधिमण्डल के बीच शान्तिपूर्ण वार्त्तालाप चलता रहा। मैं बिलकुल मौन धारण किये हुए वहाँ बैठा रहा। मेरा ख्याल है कि उस समय गलतफहमी बहुत कुछ दूर हो गई थी; किंतु दुर्भाग्य-वश वह फिर पैदा हो गई है। नरीमैन भी अ० भा० कांग्रेस

कमिटी के सदस्य की हैसियत से वहाँ आये हुए थे और सेवाश्रम में ठहरे थे। बाद में वह कांग्रेस से निकाल दिये गये, जो अनुचित था। इसी तरह वह अद्भुत वीर योद्धा सुभाषचन्द्रवसु भी कांग्रेस से निकाल दिये गये, जिन्हें रामगढ़ कांग्रेस-अधिवेशन के एक दिन पूर्व सेवाश्रम में एक दिन के लिये अतिथि के रूप में प्राप्त करने का हमें विशेष सम्मान एवं सुविधा प्राप्त हुई थी।

फिर सन् १६३६ में मैंने गांधीजी, आजाद, गफ्फार खाँ और उनकी लड़की सोफिया, सरदार पटेल, डा० विधान चन्द्र राय, श्री उमा नेहरू, जवाहरलाल, सरोजनी नायडू और दूसरे नेताओं को देखा था। यह वह अवसर था जब कि गांधीजी भारतमाता-मन्दिर का उद्घाटन करने काशी आये थे। मुझे स्मरण नहीं है कि बिड़ला-बन्धुओं में से कोई वहाँ उपस्थित थे या नहीं। बिड़ला-बन्धु गांधीजी के सभी अच्छे कामों में उनके प्रधान सहायक रहे हैं जिस तरह शिवप्रसाद मालवीयजी के थे। घनश्यामदास गांधीजी के साथ दूसरी गोलमेज-परिषद् में लंदन गये हुए थे। उन्होंने "मेरी डायरी के कुछ पन्ने" के नाम से एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है। एक बार उन्होंने मेरे घर पर मुझ से कहा—"मैं लोकमान्य की नीति में विश्वास करता हूँ, गांधीजी की नीति में नहीं। गांधीजी कहते हैं—"मार खा कर मरो"; मैं कहता हूँ—"मारो और मरो"। तिलकजी ने अपनी अविवेकपूर्ण स्पष्टवादिता के कारण बहुत से सुन्दर सुयोग खो दिये। प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर उन्होंने आम तौर से महाराष्ट्रियों को

अधिक-से-अधिक संख्या में अंगरेजी फौज में भरती होने के लिये कहा। इससे ब्रिटिश सरकार उनके गत जीवन के राजद्रोह को बिलकुल भूल गई और प्रसन्नता के साथ उनकी इस घोषणा का स्वागत किया। किन्तु, इसके कुछ समय बाद ही जब कुछ मराठों ने लोकमान्य के इस कार्य पर आपत्ति की, तब उन्होंने आम तौर से यह घोषणा की —"एक बार के लिये भी मराठा युवक अपने हाथों में राइफल धारण करना सीख लें और तब हमलोग देख लेंगे।" इससे ब्रिटिश सरकार को आँखें खुल गईं और मराठों को रंगरूट में भरती करना बन्द कर दिया गया। दूसरे महायुद्ध में मराठा सैन्यदल ने अबीसीनिया की राजधानी अदिसअबाबा पर ब्रिटिश झंडा फहरा दिया और इटली की सेना को वहाँ से भगा दिया। इस दल के कितने ही सैनिकों ने अपनी वीरता के कारण 'विक्टोरिया क्रास' भी प्राप्त किये। किन्तु इन सैनिकों ने शिवाजी महाराज की जय के नारे लगाकर राजधानी पर अधिकार किया — जार्ज महाराज की जय के नारे लगाकर नहीं। इससे ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में उनकी वीरता की कद्र बहुत कम हो गई और बड़ी मुश्किल से उनसे विक्टोरिया क्रास छीन लिये गये। यही बात गुर्खा सैनिकों के सम्बन्ध में भी थी। यूरोपियन युद्धशील राष्ट्रों की यह शिकायत थी कि यूरोपियन युद्ध में जंगली काले आदमियों को लाया जाता है। किन्तु वे इस बात को भूल जाते थे कि युद्ध के प्रथम सप्ताह में ही जर्मन सेना द्वारा पेरिस को विध्वस्त होने से बचाने में ७० हजार

भारतीय सैनिकों का बहुत बड़ा हाथ था। पेरिस की रक्षा करने में ये भारतीय सैनिक सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गये। भूतपूर्व वायसराय हार्डिंज ने पार्लियामेंट में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया था कि प्रथम महायुद्ध के अन्त में भारत में सिर्फ १४०० अंगरेज सैनिक थे और इन्हीं सैनिकों को हम देश के विभिन्न भागों में बराबर स्पेशल ट्रेनों द्वारा घुमाते रहते थे, ताकि लोगों में यह मिथ्या धारणा हो जाय कि अब भी भारत में इतनी काफी अंगरेज सेना है कि वह किसी भी जनविद्रोह को दबा दे सकती है।" भारत इस सत्य को अच्छी तरह जानता था, किन्तु फिर भी वह इसलिये शान्त रहा कि गांधीजी की तरह उसे अंगरेजों की नेकनीयती और उनकी न्यायशीलता में विश्वास था, हालाँकि बाद में चलकर बार-बार उसके साथ विश्वासभंग किया गया।

मि० पोलक और उनकी पत्नी के सम्बन्ध में भी—जो दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह में गांधीजी के साथी थे—बहुत कुछ कहना बाकी है। ये दोनों सेवाश्रम में मेरे अतिथि थे। जब से सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, तब से लेकर अबतक सेवाश्रम में एक सप्ताह भी ऐसा नहीं बीता जब कि कोई कोई न कोई विदेशी अतिथि वहाँ नहीं ठहरा हो।

किन्तु हाय! गांधीजी अब हमारे बीच से सदा के लिये चल बसे, जैसा कि सबको एक दिन जाना पड़ेगा। किन्तु उनके उपदेश, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के उपदेशों की तरह रह गये हैं, जो भावी पीढ़ियों के जीवनान्धकार में आलोक प्रदान करते रहेंगे।

त्रुटि का कारण पहले ही बताया जा चुका है और यह कहानी भी अब लम्बी हो चली है। पाठक कृपया मुझे क्षमा करें।

अहिंसा के सामने वैर का त्याग होना ही चाहिये, यह महावाक्य है, यानी जहाँ वैर अपनी आखिरी हद तक पहुँच चुका हो, वहाँ इस्तेमाल की जानेवाली अहिंसा भी ऊँची-से-ऊँची चोटी तक पहुँची हुई होनी चाहिये। आज का वातावरण इतना जहरीला बन गया है कि हम सयाने और अनुभवी लोगों के वचन याद रखने से इन्कार करते हैं, रोज-रोज होनेवाले छोटे-मोटे अनुभवों को भी नहीं देख सकते। बुराई का बदला भलाई से चुकाना चाहिये, यह बात सब के मुँह पर होती है। इसका अनुभव भी होता है। फिर भी हम यह क्यों नहीं देख सकते कि अगर यह दुनिया वैर से भरी होती, तो इसका कभी का अन्त हो गया होता। आखिर में दुनिया में प्रेम ही बढ़ता है। उसीसे दुनिया टिकी है और टिकती है।—महात्मा गांधी।

———

महात्मा गांधी की दिनचर्या

श्री के० राम राव

महात्मा गांधी का जीवन बहुत ही कार्य-व्यस्त था। उनके जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग होता था। आलस्य एवं शिथिलता को तो उन्होंने अपने पास कभी फटकने तक नहीं दिया। किंतु इतना कर्मबहुल जीवन होने पर भी उनका स्वास्थ्य अन्त तक अक्षुण्ण बना रहा और इस रहस्य का कारण यह था कि वह अपने नित्य की दिनचर्या में बहुत ही नियमित एवं क्रमबद्ध रहा करते थे। एक ओर जहाँ वह घड़ी की सुई पर दृष्टि रखकर काम किया करते थे, वहाँ दूसरी ओर समय के ऊपर उनका पूर्ण आधिपत्य था। जब उनकी खुशी होती थी, वह काम किया करते थे और इस प्रकार वह सर्वतंत्र स्वतन्त्र थे—इतना स्वतन्त्र जितना एक राजा या सम्राट्-प्रतिनिधि भी नहीं हो सकता। किंतु काम तो करना ही होगा और वह इस ढंग से काम किया करते थे, जिससे दिन बीतते-बीतते उनका एक भी काम अधूरा नहीं रह जाता था। वह अपने साथ बराबर एक जेब-घड़ी रक्खा करते थे, और घड़ी रखने का उद्देश्य केवल यही नहीं होता था कि उन्हें समय का ज्ञान होता रहे, बल्कि भी कि उनसे जो लोग मिलने आते थे, वे निर्दिष्ट समय से एक मिनट भी अधिक नहीं ले सकें। सुप्रसिद्ध

अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर जब गांधीजी से मिलने आये थे, उस समय वार्त्तालाप का निर्दिष्ट समय एक घंटा बीत जाने पर गांधीजी ने उन्हें अपनी घड़ी दिखा दी। मुलाकात का समय बीत चुका था। अपनी पुस्तक में फिशर ने एक पत्रकार की हैसियत से लिखा है कि सेवाग्राम ही एक ऐसी जगह थी, जहाँ उन्हें घड़ी दिखलाकर यह संकेत कर दिया गया कि मुलाकात का समय बीत चुका है।

दूसरी बात यह कि गांधीजी एक अदम्य आशावादी थे। वह एक महान् ध्येय को लेकर जीवन धारण करते थे और उस महान् ध्येय को सफल रूप में पूर्ण करने के लिये वह कृतसंकल्प थे। उनका आत्मप्रत्यय इतना विलक्षण था कि स्पष्ट रूप में वह बार-बार मानों स्वर्ग के दिव्य देवता को यह चुनौती दिया करते थे कि अभी आधी शताब्दी तक उनके वहाँ पहुँचने की ही आशा न करें।

तीसरी बात यह कि महात्मा गांधी की रसिकता भी असाधारण थी और यह रसिकता या आनन्दप्रियता ईश-प्रार्थना के बाद मानव-जीवन का दूसरा श्रेष्ठ आशीर्वाद है। एक बार एक रुष्ट पत्रलेखक ने बड़ी ढिठाई के साथ गांधीजी से अपने पत्र में यह प्रश्न किया था कि आप में कुछ भी रसिकता है या नहीं। उक्त पत्र लेखक का यह ख्याल था कि गांधीजी अपने सिद्धान्तों और विश्वासों में इतने कट्टर हैं कि उनमें रसिकता का अभाव जान पड़ता है। महात्मा गांधी ने पत्रोत्तर देते हुए लिखा

कि यदि मुझमें रसिकता नहीं होती, तो मैं आप जैसे व्यक्तियों के साथ किस तरह पत्र-व्यवहार कर सकता था।

चौथी बात यह कि महात्मा गांधी को परमात्मा में अडिग आस्था थी और उनका यह विश्वास था कि प्रार्थना से इतने अधिक कार्य साधित होते हैं कि दुनिया उनकी कल्पना तक नहीं कर सकती। जो लोग परमात्मा में विश्वास करते हैं, उनके लिये प्रार्थना जीवन का मूल उपादान है।

पाँचवीं बात यह है कि माहात्मा गांधी स्वयं और जो लोग उनके साथ रहा करते थे, वे भी अपने स्वास्थ्य की छोटी-से-छोटी बातों के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहा करते थे। यदि इस उक्ति को सत्य मान लिया जाय कि रोगी स्वयं ही अपने लिये सबसे अच्छा वैद्य होता है, तो गांधीजी इसी प्रकार के एक वैद्य थे। यों तो उन्हें सदैव अच्छी-से-अच्छी डाक्टरी सहायता मिल सकती थी, किंतु वह स्वयं अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहा करते थे और अपने भोजन तथा कार्य पर नियंत्रण रखकर अपने स्वास्थ्य के सन्तुलन को फौरन ठीक कर लेते थे।

उनकी दिनचर्या की तालिका यहाँ दी जाती है—

४-४ प्रातःकाल—शौचादि, नित्यकर्म

४-१५ "—आश्रमवासियों के साथ आध घंटे तक प्रार्थना।

४-४५ से ६-३० तक थोड़ी देर के लिये झपकी लेते या कार्य करते।

६-३० जलपान।

७-३० से ८-३० तक टहलना।

८-३० से ११ तक—मालिश और स्नान।

११-३०—दोपहर का भोजन। अखबार पढ़वाकर सुनना।

१ से ४-३० तक—काम करना या आवश्यक होने पर झपकी लेना।

४-३० चर्खा चलाना।

६ बजे संध्या—भोजन। अखबार पढ़वाकर सुनना।

७ बजे—प्रार्थना।

७-१५ से ८-३० टहलना।

६ से १० बजे तक—काम करना।

१०—सो जाना।

महात्मा गांधी की पोशाक में कुल ६ कपड़े होते थे—तीन धोतियाँ और तीन ओढ़ने की चादरें। चादरों से वह कुर्त्ता और कम्बल दोनों का काम लेते थे। एक जोड़ी अतिरिक्त चादर इसलिये रक्खी जाती थी कि जरूरत पड़ने पर उससे काम लिया जा सके।

गांधीजी बराबर गर्म पानी से स्नान किया करते थे। साबुन का व्यवहार वह कभी नहीं करते थे। स्नान से पहले वह तेल और नींबू का रस मिलाकर मालिश किया करते थे। इसके बाद स्नान करते समय मोटे गमछे से देह को अच्छी तरह रगड़ा करते थे जिससे शरीर सम्पूर्ण स्वच्छ हो जाता था।

वह बिना आईने के ही सेफ्टीरेजर का व्यवहार किया करते थे, जिससे कभी-कभी दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल यों ही रह जाते थे। समय-समय पर कोई आश्रमवासी उनके सिर के बाल काट दिया करता था। शास्त्रों में जिसे 'अपरिग्रह' कहा जाता है, गांधीजी उनके मूर्त्त रूप थे। वह अपने लिये किसी प्रकार का धन-संग्रह नहीं किया करते थे। उनके चश्मे का फ्रेम भी बहुत ही साधारण और पुराने ढंग का था।

गांधीजी के पास संसार के सब भागों से रोजाना ढेर-के-ढेर पत्र आया करते थे। इसके सिवा उनसे मिलनेवाले लोगों की संख्या भी बहुत हुआ करती थी। पत्रों के उत्तर देने, मुलाकातियों से मिलने और उन्हें सब विषयों पर सलाह देने, उनकी शंकाओं को निवृत्त करने तथा अपनी पसन्द की पुस्तकें पढ़ने में उनका समय व्यतीत होता था। उनके अधिकांश पत्रों के उत्तर उनके सेक्रेटरी श्रीप्यारेलाल लिखा करते थे। आवश्यक पत्रों के मजमून गांधीजी स्वयं लिखाया करते थे। उन्हें पत्र पढ़कर सुना दिये जाते थे और उनके उत्तर किस ढंग से दिये जाने चाहिये, इस सम्बन्ध में उनकी हिदायतें नोटकर ली जाती थीं। स्वयं वह बहुत कम पत्र लिखा करते थे। अपने हाथ से वह अपने पुराने मित्रों या बीमार आदमियों को पत्र लिखते थे। वह हिन्दी या गुजराती में पत्र लिखा करते थे। अत्यावश्यक होने पर ही वह अंगरेजी भाषा का व्यवहार करते थे। गांधीजी को पत्र लिखनेवाले सब तरह

के प्रश्न अपने पत्रों में उनसे पूछा करते थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि गांधीजी सबसे बढ़कर ज्ञानी-गुणी पुरुष हैं और विधाता ने उन्हें दो अतिरिक्त नेत्र दिये हैं, जिनसे वह सभी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और व्यक्तिगत समस्याओं की तह में पहुँचकर उनका समाधान कर सकते हैं। कभी-कभी अप्रसिद्ध भारतीय भाषाओं में लिखे हुए ऐसे पत्र उनके पास आते थें, जिनके जाननेवालों की तलाश की जाती थी और तब उनसे पत्र पढ़वाकर उनके उत्तर दिये जाते थे।

उनकी रोजाना डाक के थैले में केवल चिट्ठियाँ और समाचारपत्र ही नहीं, लेखकों और प्रकाशकों द्वारा भेजी गई बहुत-सी पुस्तकें भी हुआ करती थीं। पुस्तकें या तो सम्मानार्थ भेजी जाती थीं अथवा उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार की पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक हुआ करती थी कि उनसे एक खासा सुंदर पुस्तकालय बन जाय।

गांधीजी से रोजाना मिलनेवालों की संख्या अधिक होती थी, इसलिये उनके सेक्रेटरी श्रीप्यारेलाल का एक अप्रिय कार्य यह होता था कि वह मिलनेवालों को रोक रक्खें। जिन लोगों को गांधीजी से मिलने की अनुमति मिलती थी, उनके लिये भी समय निर्दिष्ट होता था। गांधीजी जब थक जाते थे, तब वह लेट जाते और लेटे हुए ही मुलाकातियों से मिलते और बातचीत करते। संवाददाताओं के प्रश्नों के उत्तर लिखकर दिये

जाते थे। सोमवार को उनका मौन दिवस होता था। इस दिन वह प्रश्नों के उत्तर लिखकर देते थे।

गांधीजी चुनी हुई पुस्तकें पढ़ा करते थे। अपने जीवन के पिछले कई वर्षों में उनके ध्यान का प्रधान विषय था रचनात्मक कार्यक्रम। इस विषय का जितना साहित्य उनके पास पहुँचता था, वह सबको ध्यानपूर्वक पढ़ा करते थे। हाल में मैंने उन्हें त्रिदोष, राष्ट्रभाषा और गोधन पर पुस्तकें पढ़ते देखा था। जेल में उनका अध्यान विस्तृत था। वहाँ उन्होंने शेक्सपीयर की आधी कृतियाँ और बर्नार्डशॉ के बहुत से ग्रन्थ पढ़ डाले। मीरा बेन ने उनके हाथ में अँगरेजी कवि ब्राउनिंग का काव्य-संग्रह रख दिया और उन्होंने ब्राउनिंग की कृतियों में,'The Grammarian's Funeral' और 'Rabi Ben Ezra' को ज्यादा पसन्द किया। उन्होंने मार्क्स के 'कैपिटल' ग्रन्थ का इतना गम्भीर अध्ययन किया था कि वह बड़े-से-बड़े कम्युनिस्टों के साथ वादविवाद कर सकते थे।

गांधीजी किसी एकान्त स्थान में बैठकर चिन्ता नहीं किया करते थे, जैसा कि कुछ महान् पुरुष किया करते हैं। उनके चिन्तन और भाषण एक साथ चलते थे। जो कुछ बोलते थे, अच्छी तरह सोच-विचार कर।

बहुत अस्वस्थ होने पर ही उनका प्रातः और सायं का टहलना बन्द होता था। टहलते समय दो आश्रमवासी उनके साथ अवश्य होते थे। कभी-कभी जब सेवाग्राम में कोई बड़ा

अनुष्ठान होता था; ऐसे अवसरों पर जनसमूह ही उनके पीछे हो लिया करता था। उस समय वह चाहे अपनी चाल को कितनी ही तेज क्यों न कर दें, किन्तु जनमूह को अपने से अलग करना उनके लिये कठिन हो जाता था। जो लोग सेवा-ग्राम में उन्हें अपनी कुटी में नहीं देख पाते, वह टहलने के इस मौके से लाभ उठाकर उनके पीछे हो लेते और उनके दर्शनों को पाकर अपने को कृतार्थ समझते।

प्रार्थना के समय की प्रतीक्षा लोग बड़ी उत्कण्ठा से किया करते थे, क्योंकि उस समय केवल उनके दर्शनों का ही सुयोग नहीं मिलता, वल्कि श्रद्धालुजनों के लिये सन्तसमागम भी बड़े पुण्य का कार्य समझा जाता था। प्रार्थनासभा में सब धर्म-ग्रन्थों के वाक्य पढ़कर सुनाये जाते या भजन गाये जाते थे। 'आश्रम-भजनावली' के कुछ भजन गाये जाते, फिर नियमित भाव से कुरान और वाइविल के प्रार्थनावाक्य पढ़कर सुनाये जाते। धर्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण वहुत व्यापक था। कुछ समय पहले एक नास्तिक उनके सामने लाया गया, ताकि गांधीजी तर्क-वितर्क द्वारा उसे ईश्वरविश्वासी के रूप में परिवर्तित कर दें। मुझे इस समय स्मरण नहीं है कि वह उनकी युक्तियों को मान कर नास्तिक से आस्तिक वना या नहीं, किन्तु गांधीजी ने इस वात को मान लिया कि कोई व्यक्ति यदि नास्तिक होने पर भी सच्चरित्र हो और उसमें लोक-सेवा की भावना हो, तो वह उसी तरह संसार का सुधार कर सकता है जिस तरह एक

प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति। जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी ऐसे आचरण करता है, जो ईश्वर को इष्ट है तो वह उसी तरह साधु समझा जायगा, जिस तरह ईश्वर में विश्वास करनेवाला एक आस्तिक।

प्रार्थना समाप्त हो जाने पर गांधीजी चबूतरे पर बैठ जाते थे और हस्ताक्षर करते थे। हस्ताक्षर का शुल्क पाँच रुपया लिया जाता था। चौदह भाषाओं में वह अपना हस्ताक्षर कर सकते थे।

लकड़ी के एक तख्ते पर एक पतली गद्दी बिछी हुई होती थी जिसपर वह सोया करते थे। इससे अधिक उनके बिछावन में और कुछ नहीं होता था। पहले वह तीन तकियों का व्यवहार करते थे, किन्तु बाद में उन्होंने तकिये का व्यवहार करना एकदम छोड़ दिया था। डाक्टरों की सलाह से वह ८ घण्टे बिछावन पर बिताते थे और दिन में आध घण्टे या एक घण्टे के लिये विश्राम कर लिया करते थे। बहुत काम होने पर वह ६ घण्टे से अधिक आराम नहीं करते थे। कभी-कभी अधिक काम होने या कोई पेचीदा सवाल सामने आ जाने पर उन्हें आराम करने का समय बिलकुल नहीं मिलता था। पुस्तक पढ़ते हुए सो जाने या दूसरे से पुस्तक पढ़वाकर निद्रा का आवाहन करने का अभ्यास गांधीजी को नहीं था।

गांधीजी का 'खाद्य' बहुत स्वल्प किन्तु सावधानी के साथ चुने हुए पदार्थों का होता था। भोजन के समय वह अपने नकली

दाँतों का प्रयोग करते थे और खूब चबा-चबाकर खाते थे। प्रातःकाल टहलने से पहले वह नारंगी का आठ छटाँक रस, एक चम्मच आँवले का मोरब्बा तथा एक छटांक गुड़ खाया करते थे। दो पहर के भोजन में तीन से चार छटाँक तक उबाली हुई तरकारी और लगभग एक छटाँक हरी सब्जी हुआ करती थी। नमक का व्यवहार वर्जित था। इसके साथ एक या दो छटाँक रोटी भी जो खास तरह से गेहूँ और बकरी के दूध की बनी हुई होती थी, शामिल थी। वर्षों पहले उन्होंने किसी प्रकार का दूध ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु स्वास्थ्य खराब हो जाने पर उन्हें विवश होकर बकरी का दूध ग्रहण करना पड़ा। गांधीजी के मेहमान को पहले से ही बकरियों का प्रबन्ध कर रखना होता था। दूध के बदले में वह उबाला हुआ खजूर, सेब और आम के मौसम में पका आम खाया करते थे। 'चाय' के बदले में वह चार छटाँक गरम जल शहद और सोडा बाइकारबोनेट के साथ लिया करते थे।

आश्रमवासियों के भोजन में गेहूँ, चावल और तरकारियों का अंश कुछ अधिक होता था। तरकारियों में नमक और प्याज भी स्वाद के लिये डालते थे।

महात्मा गांधी अपने लिये कोई नौकर-चाकर नहीं रखते थे, उन्हें नौकरों की जरूरत नहीं होती थी। जिस काम को वह स्वयं नहीं कर सकते थे, उनके साथ के लोग कर लिया करते थे। श्रीप्यारेलाल उनके प्रधान सेक्रेटरी के रूप में पत्रों के जवाब दिया

करते थे और आगन्तुक व्यक्तियों को उनसे मिलाते थे। इसके सिवा श्री नरहरि परेख और श्रीहेमन्त कुमार नीलकंठ भी उनके सहायक थे। गांधीजी के पौत्र श्रीकनू गांधी गांधीजी की परिचर्या में रहा करते थे। आश्रम के खर्च या हिसाब-किताब भी वही रक्खा करते थे। डा० सुशीलानायर के ऊपर उनके स्वास्थ्य की देखभाल का भार था। श्रीप्यारेलाल के साथ डा० सुशीलानायर भी गांधीजी को समाचारपत्र से जरूरी खबरें पढ़कर सुनाया करती थीं। अखबारों की कतरनें भी रक्खी जाती थीं।

महात्मा गांधी चाहे जहाँ कहीं रहें—सेवाग्राम की कुटिया में या किसी करोड़पति के राजप्रासाद में—उनकी दैनिक-चर्या में कोई फर्क नहीं पड़ता था। उनकी दिनचर्या के तीन मूल सूत्र थे—समय नष्ट नहीं करना; व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना और सतत सावधान रहना। इस प्रकार महात्म गांधी अपनी शारीरिक शक्तियों का सदुपयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया करते थे जिससे वह राष्ट्र के अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यभार को सँभालते हुए भी अपने स्वास्थ्य को जीवन के अन्तकाल तक अक्षुण्ण रखने समर्थ हुए।

महात्मा गांधी और हिन्दी

श्री रविनाथ पाण्डेय

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के सम्बन्ध में अनेक तरह के प्रचार किये गये। कुछ लोगों ने तो उन्हें हिन्दी का शत्रु तक कह डाला। अखबारों के कालम ही नहीं रंगे गये, बल्कि पोथियाँ तक प्रकाशित की गईं। धर्म और संस्कृति तक की दुहाई दी गई। जिन लोगों ने हिन्दू-धर्म और संस्कृति का गला घोंटने में कोई बात उठा नहीं रक्खी वे भी कमर कस कर मैदान में उतर आये और महात्मा गांधी पर कीचड़ उछालने लगे। वातावरण इतना विषाक्त बन गया और हिन्दी-हिन्दुस्तानी का मतभेद इतना ज्यादा बढ़ गया कि महात्मा गांधी को बाध्य होकर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सदस्यता से अलग होना पड़ा। हिन्दी के हिमायतियों ने इस बात पर लेश-मात्र भी ध्यान नहीं दिया कि जो पुरुष हिन्दी का इतना बड़ा हितैषी है, जिसने हिन्दी के उत्थान के लिये भगीरथ प्रयत्न किया, जिसके प्रयास से हिन्दी का प्रवेश राजनीतिक क्षेत्र में हुआ, वह हिन्दी का अहित कैसे कर सकता है। ऐसी क्या परिस्थिति आ पड़ी है, जिससे बाध्य होकर इस महापुरुष को हिन्दुस्तानी और उसके बाद हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं के ज्ञानपर जोर देना पड़ रहा है। इसपर विचार करने का कष्ट किसीने नहीं उठाया। भावुकता ने स्थूलता को

दबा दिया और लोग उसी के प्रवाह में बह चले। कुछ लोगों ने ख्याति और प्रसिद्धि का इसे साधन बनाया और दिल्ली जानेवाले पाँच सवारों में अपना नाम लिखाया।

जो हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध है और इस बात को बिना किसी संकोच के स्वीकार किया ही जायगा कि हिन्दी को जो गौरवमय पद आज प्राप्त हो सकता है, उसका श्रेय महात्मा गांधी को है। यह भी कहना अत्युक्ति नहीं समझा जायगा कि साहित्य-सम्मेलन की प्रतिष्ठा भी उसी दिन बढ़ी, जिस दिन इस संस्था में महात्मा गांधी का पदार्पण हुआ।

किसी भी देश का साहित्य उस देश की उथलपुथल से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। उस देश की राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्ति से साहित्य का घना संपर्क होना चाहिये। बिना इस सम्बन्ध के एक दूसरे की अभिवृद्धि नहीं हो सकती। इसके अभाव में न तो साहित्य की अनुकूल प्रगति होगी और न संस्था ही अपना उद्देश्य पूरा कर सकेगी। दोनों अधूरे रहेंगे और अपने-अपने क्षेत्र में पगु समझे जायँगे। हमारे देश की भी उस समय तक कुछ ऐसी ही हालत थी, जब तक महात्मा गांधी इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल नहीं हुए थे।

कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हो चुकी थी; लेकिन १९१७ तक कांग्रेस जनसाधारण की संस्था नहीं हो पाई और कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही वह सीमित रही। इसका एक-

मात्र कारण यही था कि कांग्रेस से इस देश की भाषा का कोई सम्बन्ध या संपर्क नहीं था। उसके सारे काम-काज अंग्रेजी में होते थे। उसके मंच पर से भाषण भी अंग्रेजी में होते थे। इससे जन-साधारण तब तक कांग्रेस की ओर आकृष्ट नहीं हो सकता था। न तो उसे कांग्रेस में रुचि थी और न कोई प्रयोजन था। वह उसे अपनी संस्था मानती भी नहीं थं और शहरों के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग कांग्रेस का नाम भी नहीं जानते थे। कांग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव एक तमाशा हुआ करता था। शहरों में दस-बीस लोग इकट्ठे हो जाते और कांग्रेस के अधिवेशन के लिये प्रतिनिधि चुन लिया करते थे। 'आप मियाँ मिट्ठू' की तरह वे जनता के प्रतिनिधि बन जाते थे। इसलिये सरकारी दृष्टि में उनकी कदर भी नहीं थी; क्योंकि सरकार जानती थी कि इस देश में मुश्किल से एक-दो फी सदी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग हैं, जो कांग्रेस को मानते हैं और कांग्रेस में शामिल होनेवाले प्रतिनिधि ज्यादा-से-ज्यादा इसी एक-दो फी सदी का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। कांग्रेस जन-साधारण में प्रवेश नहीं कर सकी है, इसलिये इसका कोई मूल्य नहीं है।

महात्मा गांधी ने पहले-पहल इस कमी को महसूस किया। उन्होंने देखा कि जबतक कांग्रेस का काम भारत की अपनी भाषा हिन्दी में नहीं होगा, तब तक कांग्रेस जन-प्रिय नहीं हो सकेगी और वह इस देश का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर

सकती। इसी बात को मद्देनजर रखकर सबसे पहले उन्होंने कांग्रेस मंच से हिन्दी में भाषण आरंभ किया। महात्माजी की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। उस वक्त तक वे हिन्दी में अच्छी तरह लिख और बोल नहीं सकते थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। लेकिन हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद दिलाने के लिये ही उन्होंने यह दुस्साहस उस वक्त किया था। दुस्साहस शब्द का प्रयोग हमने जान बूझ कर किया है। जिस युग में कांग्रेस के मंच से हिन्दी का नामलेवा भी कोई नहीं था, उस समय उस मंच से हिन्दी में भाषण देने के लिये कटिबद्ध होना दुस्साहस नहीं तो और क्या कहा जायगा। परिणाम क्या हुआ ? चारों ओर से आवाज आने लगी इंगलिश, इंगलिश अर्थात् अंग्रेजी में बोलिये। लेकिन महात्मा गांधीजी हताश या निराश होनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने इसका उत्तर बड़ी दृढ़ता से दिया। "मुझे तब तक ठहरना पड़ेगा, जब तक आप लोग हिन्दी सीख लें।" और महात्माजी अपने प्रयास में सफल हुए। लोगों को कांग्रेस में हिन्दी के लिये स्थान देना पड़ा और महात्मा गांधीजी के प्रयास से भारत की राजनीति में हिन्दी का प्रवेश हुआ।

महात्मा गांधी के इस प्रयास से हिन्दी को कितना बल मिला, उसका कितने वेग से उत्थान हुआ, इसका पता तो राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से चल जाता है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों का कहना है कि

१९२० के असहयोग-आन्दोलन में हिन्दी साहित्य को जो अभिवृद्धि हुई, वह पिछले ५० वर्षों में नहीं हुई थी। और, १९३० और १९४२ के आन्दोलनों में भी हिन्दी साहित्य को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला।

लेकिन कांग्रेस में हिन्दी का प्रवेश करा देने से ही काम चलनेवाला नहीं था। इससे भी ज्यादा जरूरी था हिन्दी का उन प्रान्तों में प्रचार, जहाँ की भाषा हिन्दी नहीं थी। इस दृष्टि से विचार करने पर सबसे कठिन और जटिल समस्या मद्रास प्रान्त की थी। भारत के अन्य सभी प्रान्तों की भाषाओं में हिन्दी का कुछ-न-कुछ प्रवेश है। सभी प्रान्तों में लोग किसी-न-किसी तरह हिन्दी को समझ तो लेते हैं, टूटी-फूटी हिन्दी बोल भी लेते हैं, लेकिन मद्रास एक ऐसा प्रान्त था, जहाँ हिन्दी एकदम विदेशी भाषा समझी जाती थी और न तो वहाँ के लोग हिन्दी बोल सकते थे और न समझ सकते थे। इसलिये जब तक मद्रास में हिन्दी का प्रचार न किया जाय, तब तक हिन्दी को कांग्रेस में पूरी सफलता नहीं मिल सकती थी, बल्कि तब तक हिन्दी को कांग्रेस में प्रस्थापित करना मद्रासवालों के साथ अन्याय करना होता। यह बहुत बड़ा प्रश्न महात्मा गांधी के सामने था।

लेकिन इसका हल महात्माजी ने सोच लिया। कांग्रेस के मंच से महात्मा गांधी ने हिन्दी के लिये जो कुछ किया उसने हिन्दी के उस समय के हिमायतियों को उनकी ओर आकृष्ट किया। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के कर्णधारों ने हिन्दी साहित्य-

सम्मेलन के इस साल के अधिवेशन का सभापति महात्माजी को बनाने का निश्चय किया। इस निर्णय के अनुसार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के वे सभापति बनाये गये। उसी अधिवेशन में उन्होंने मद्रास प्रान्त में हिन्दी प्रचार की योजना बनाई और जिन लोगों ने इस काम में महात्माजी का हाथ बँटाना चाहा, उन्हें उन्होंने आवश्यक खर्च देकर इन्दौर से ही मद्रास के लिए रवाना किया।

इस तरह मद्रास में हिन्दी प्रचार का काम आरम्भ हुआ। इस काम के लिये महात्माजी ने धन-संग्रह आरम्भ किया और धीरे धीरे इस काम को इस तरह बढ़ाया कि मद्रास प्रान्त में प्रचारकों का जाल बिछा दिया और मद्रास के बड़े-से-बड़े लोग हिन्दी सीखने के लिये आतुर दिखाई दिये। कई साल की बात है। मद्रास हिन्दी प्रचार-सभा के मंत्री श्री सत्यनारायणजी पटना आये थे। उस समय मैं बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का प्रधान मंत्री था मद्रास में हिन्दी-प्रचार के बारे में बात बात होने लगी, इसी सिलसिले में श्री सत्यनारायणजी ने मुझसे कहा था—"हम मद्रास प्रान्त के रहनेवाले महात्मा गांधी के ऋणी हैं, क्योंकि उन्होंने हमें इस योग्य बना दिया है, कि आज हम भारत के किसी प्रान्त में घूम-फिर सकते हैं और बिना किसी दिक्कत के अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं। लोग मेरी बात समझ लेते हैं और मैं लोगों की बात समझ जाता हूँ, नहीं तो इससे पहले मद्रास एक अंग होते हुए भी भाषा की दुरूहता के कारण विदेशी बना हुआ था।"

आज तो मद्रास के शहरों में ही नहीं; गाँवों में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है। हिन्दी की कई परीक्षायें कायम हो गई हैं और प्रतिवर्ष लाखों विद्यार्थी इन परीक्षाओं में शामिल होते हैं और हिन्दी की उपाधि ग्रहण करते हैं। मद्रास प्रचार-सभा की ओर से नियमित रूप से हिन्दी का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है, जो क्रम जारी है और जिस तरह वहाँ ठोस काम हो रहा है, उसे देखकर तो यह आशा करना अनुचित नहीं होगा कि कालान्तर में मद्रास प्रान्त में सबसे ज्यादा हिन्दी के पढ़ने-लिखने वाले हो जायँगे।

मद्रास में प्रचार का जो कार्य आरम्भ हुआ, उससे सम्मेलन को स्फूर्ति मिली और उसका प्रचार-विभाग सक्रिय तथा तत्पर होकर काम करने लगा। मद्रास प्रान्त की ओर से निश्चिन्त होकर सम्मेलन के प्रचार-विभाग ने अन्य अहिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में प्रचार का काम आरम्भ किया। आसाम तथा खासिया हिल्स इसके खास केन्द्र बने। प्रयाग सम्मेलन की देखादेखी बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने भी अपने प्रान्त के अहिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में पचार का कार्य आरम्भ किया। साधनों की कमी होते हुए भी प्रान्तीय सम्मेलन ने इस दिशा में कुछ काम किया। हिन्दी के इस व्यापक प्रचार का सारा श्रेय महात्मा गांधी को ही है।

इसके बाद राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर हिन्दुस्तानी का प्रश्न सामने आया। विरोधियों के विरोध की परवा न कर महात्मा

जी ने इस प्रश्न को भी अपने हाथ में लिया। राष्ट्रभाषा प्रचार-सभा का काम बम्बई और पूना में उन्होंने जोरों से चलाया और अगणित ऐसे उत्तम व्यक्तियों को इस ओर खींचा, जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं थी। राष्ट्रभाषा के प्रश्न के चलते महात्माजी पर कीचड़ उछाले गये, जैसा पीछे लिखा गया है, लेकिन उसकी उन्होंने लेशमात्र भी परवा नहीं की। वे उसी तत्परता के साथ अपने काम में लगे रहे। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सदस्यता से त्यागपत्र देते हुए महात्माजी ने टण्डनजी को जो पत्र लिखा था, उसका एक वाक्य उनके सारे दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने लिखा था —"हिन्दी की अधिकाधिक सेवा करने के लिये ही मैं साहित्य-सम्मेलन से अलग हो रहा हूँ।"

केवल प्रचार के काम में ही नहीं, बल्कि ठोस साहित्य के सृजन में भी महात्मा गांधी के व्यक्तित्वका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवान् कृष्ण-चन्द्र के बाद शायद महात्मा गांधी ही ऐसे व्यक्ति निकलेंगे, जिनके व्यक्तित्व से हिन्दी के कवियों को प्रेरणा मिली हो और इतने अधिक काव्य का सृजन हुआ हो। श्री मैथिलीशरण गुप्त महात्मा गांधी को लेकर ही राष्ट्र कवि बने। माधव शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी को महात्मा गांधी के जीवन और प्रयोग से स्पष्ट प्रेरणा मिली है। जिस समय दिनकर ने कुरुक्षेत्र की रचना की थी और

उसकी कुछ पंक्तियाँ पहले-पहल मुझे सुनाई थीं, मैंने पूछा था—"महाभारत के समान वीररस प्रधान घटना में यह निर्वेद तुमने कहाँ से घुसेड़ दिया।" श्रीदिनकर ने मुस्कुराकर मुझसे कहा था—"महात्मा गांधी का प्रभाव। मैंने बहुत कोशिश की; लेकिन महात्मा गांधी की अहिंसा के अमिट प्रभाव से मैं अपने को मुक्त नहीं कर सका और 'कुरुक्षेत्र' का अर्थ निर्वेद से करना पड़ा।"

जिस तरह दिनकर पर गांधीवाद का अमिट प्रभाव पड़ा, उसी तरह सोहनलाल द्विवेदी भी गांधीवाद से ओतप्रोत हैं। उनकी हर पंक्ति में गांधीवाद की छाप है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की कल्पना को गांधीवाद ने घेर लिया है और उससे स्वतंत्र इसका कहीं अस्तित्व नहीं है। माधव शुक्ल तो—

"यदि इच्छा हो प्रबल यह, भारत का उद्धार हो।
असहयोग पथ को गहो, क्षण में बेड़ा पार हो।

की रट लगाते-लगाते परलोक चले गये। मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कवितायें ऐसी कवितायें हैं, जो गांधीवादी विचार धारा की प्रतिबिम्ब कही जा सकती हैं। माखनलालजी के जीवन पर गांधीजी के सत्य, अहिंसा का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कविताओं में आक्रोश के लिये स्थान नहीं है। अहिंसा उन्हें वैसा करने से मना करती है। वे दमन और उत्पीड़न के कष्टों को प्रियतम के मार्ग की कठिनाइयाँ समझते हैं।

सियाराम शरणजी पर भी गांधीवादी विचार-धारा का

गाँधीजी की ईश्वर में श्रद्धा

श्रीघनश्याम दास बिड़ला

"ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मैं उसी रूप का पुजारी हूँ जो सत्य का अवतार है—वह नित्य, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणों में कई जगह कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि गांधीजी की अहिंसा, सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु हैं। रामनाम के माहात्म्य को गांधीजी ने पीछे पहचाना, पर इसमें श्रद्धा पहले हुई।

कहते हैं कि गांधीजी को बचपन में भूत का डर लगता था, इसलिये वह समय-कुसमय अंधेरे में जाने से डरते थे। पर इनकी नौकरानी रंभा ने इन्हें बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गांधी एक नया शस्त्र मिला और उसमें श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अंधी थी, ज्ञानविहीन थी, वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद में उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैंने देखा है कि गांधीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जंभाई लेते या अंगड़ाई लेते हैं, लम्बी सांस लेकर 'हे राम, हे राम' ऐसा

उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके 'हे राम, हे राम' में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है, कुछ थकान होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा है कि क्या वह यह कहते होंगे, "हे राम, अब बुड्ढे को क्यों तेली के बैल की तरह जोत रक्खा है? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिये मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति में विलम्ब क्यों?"

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह कवि थे। अपनी बीमारी के असह्य दुःख को जब बर्दाश्त न कर सके, तब उन्होंने ईश्वर को उलाहना देते हुए गाया—

ग्वालीड़ा, थे काई जाणो रे पीड़ पराई।
थारे हाथ लकुटिया, कांधे कमलिया, थें वन-वन धेनु चराई॥

पर गांधीजी के सम्बन्ध में शायद ऐसा न होगा। क्योंकि गांधीजी में धीरज है। वह जानते हैं, ईश्वर की उनपर अत्यन्त अनुकंपा है। उन्हें ईश्वर म विश्वास है। यश-अपयश और हानि-लाभ की चिंता उन्होंने भगवान् के चरणों में समर्पण करदी है, इसलिये उन्हें अधैर्य नहीं है, उन्हें असंतोष नहीं है। पर तो भी उनका करुणामय 'हे राम, हे राम' कुछ द्रौपदी की पुकार या गज के आर्त्तनाद की सी कल्पना कराता है।

कुछ वर्षों पहले की बात है, एक सज्जन ने जो भक्त माने जाते हैं, गांधीजी को लिखा, "मुझे रात को एक स्वप्न आया। स्वप्न में मैंने श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा, 'गांधी से कहो कि अब उसका अन्त नजदीक आगया है,

इसलिये उसे चाहिये कि वह सारे काम-धाम छोड़कर केवल ईश्वर-भजन में ही लगे।" गांधीजी ने उस मित्र को लिखा, "भाई, मैं तो एक पल के लिये भी ईश्वर-भजन को नहीं बिसारता। पर मेरे लिए लोक-सेवा ही ईश्वर-भजन है। दूसरी बात, समय नजदीक आगया है, क्या इसीलिये हम ईश्वर-भजन करें? मैं तो यह मानता हूँ कि हमारी गर्दन, हम जन्मते हैं उसी दिन से यमराज के हाथ में है। फिर ईश्वर-भजन करने के लिये हम बुढ़ापेतक क्यों ठहरें? ईश्वर-भजन तो हर अवस्था में हमें करना चाहिये।"

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

ईश्वर में उनकी श्रद्धा इस जोर के साथ जम गई है कि हर चीज में वह ईश्वर की ही कृति देखते हैं। आश्रमों में सांपों ने किसीको नहीं काटा, यह ईश्वरीय चमत्कार। छोटी-मोटी कोई घटनाएँ होती हैं, तो वह कहते हैं—"इनमें ईश्वर का हाथ है।"

गांधी-अरविन समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों को एक लम्बा बयान दिया, जो उस समय एक अत्यन्त महत्त्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हें खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा। पर ज्यों ही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी, मानो सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज-परिषद् में उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों

में से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होंने कोई सोच-विचार नहीं किया था। वैसे तो उनके लिये यह साधारण घटना थी, पर दोनों घटनाओं के पश्चात् जब मैंने कहा, "आपका यह वक्तव्य अनुपम था, आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था।"—तो उन्होंने कहा, "इसमें ईश्वर का हाथ था।"

हम लोग भी, यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो, शायद यह कहेंगे, "हाँ, आपकी दया से अच्छा हुआ" या "ईश्वर का अनुग्रह था।" पर हम लोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते हैं, तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात होती है। किन्तु गांधीजी जब यह कहते हैं कि 'इसमें ईश्वर का हाथ था', तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते हैं। उनकी श्रद्धा एक चीज है, केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नहीं।

एक इनका प्रिय साथी है, जो दुश्चरित्र है। उसको यह अपने घर में रखते थे। यह अफ्रीका की घटना है। यद्यपि वह साथी चरित्रहीन था, पर उसपर निश्शंक होकर गांधीजी विश्वास करते थे। उसकी कुछ त्रुटियों का इन्हें ज्ञान था, पर इन्हें यह विश्वास था कि वह इनकी संगति से सुधर जायगा। एक रोज इनका नौकर दफ्तर में पहुँचता है और कहता है कि जरा घर चलकर देखें कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा दे रहा है। गांधीजी घर आते हैं और देखते हैं कि उस विश्वास-

पात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है! इन्हें सदमा पहुंचता है। उस साथी को घर से हटाते हैं। उसके प्रति इन्हें प्रेम था। उसका सुधार करने के लिये ही उसे पास टिका रक्खा था। इनके लिये यह भी एक कर्त्तव्य का प्रयोग था। पर इसका जिक्र करते समय यही कहते हैं, "ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिये भगवान् ने मुझे भविष्य के लिये चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलों से बचा लिया।" यह सारा क़िस्सा इनके अन्धविश्वास और भूल साबित होने पर झट अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है।

एक घटना मणिलाल भाई के, जो इनके द्वितीय पुत्र हैं, कालज्वर से आक्रांत हो जाने की है, जिसे मैं नीचे गांधीजी के शब्दों में ही उद्धृत करता हूँ—

"मेरा दूसरा लड़का बीमार हो गया। कालज्वर ने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता नहीं था। घबराहट तो थी ही; पर रात को सन्निपात के लक्षन भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा—"इसके लिये दवा का उपयोग नहीं हो सकता; अब तो इसे अंडे और मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है।"

मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था? जिम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर

एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—डाक्टर, हम सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी वस्तु न बतलायेंगे ?

डाक्टर बोले—"तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है; पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू-परिवारों में जाया करता हूँ; पर दवा के लिये तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

'आप जो कहते हैं वह तो ठीक है। और आपको ऐसा करना ही चाहिए; पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता, तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता; पर यहाँ तो इसके लिये मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिये। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिये भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिये। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है। इसलिये आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आप-से मैं एक बात चाहता हूँ। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा;

पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों कोमैं करना चाहता हूं; परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ कराते रहें, तो मैं आपका उपकार मानूंगा।'

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिये आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

'आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिये। मैं शोरवा नहीं पीऊंगा, और न अंडे ही खाऊंगा।' उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खाने को कहता तो व' खा भी लेता।

मैं कूने के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूने की पद्धित के अनुसार मैंने मणिलाल को कटिस्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दीन तो सिर्फ नारंगी के रस में पानी मिलाकर देता रहा और उसी पर रक्खा।

बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़ब-

जाता था। बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं चकराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टर को क्यों न बुलाया जाय? क्यों न बुलाऊं? माँ-बाप को अपनी अधूरी अक्ल आजमाने का क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—'जीव! जो तू अपने लिये करता है, वही लड़के के लिये भी कर। इससे परमेश्वर संतोष मानेंगे। मुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो आखिर में प्रयोग ही न हैं? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।'

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादर की पट्टी में रक्खा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानी में उसे डुबोया और निचोड़कर उसमें पैर से लेकर सिरतक उसे लपेट दिया और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये; सिर पर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ को सौंपकर मैं आध घण्टे के लिये खुली हवा में ताजगी और शान्ति

दस बजे होंगे। मनुष्यों की आमद-रफ्त कम हो गई थी; पर मुझे इसका ख़याल न था! विचार-सागर में गोते लगा रहा था--'हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना।' मुँह से 'राम-राम' की रटन तो चल ही रही थी। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा! मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—'बापू! आगये ?'

'हाँ, भाई।'

'मुझे इसमें से निकालिये न? मैं तो मारे आग से मरा जारहा हूँ'

'क्यों पसीना छूट रहा है क्या ?'

'अजी, मैं तो पसीने से तर हो गया। अबतो मुझे निकालिये न ?'

मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की तरह पसीने की बूँदें चमक रही थीं। बुख़ार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

'मणिलाल, घबड़ा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा; पर कुछ और पसीना आजाय तो कैसा?, मैंने उससे कहा।

उसने कहा—'नहीं बापू! अब तो मुझे छुड़ाइये। फिर देखा जायगा।"

मुझे धैर्य आगया था, इसलिये बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली। मैंने चादर को अलग किया और शरीर को पोंछकर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों सो गये। दोनों ख़ूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया था। दूध, पानी तथा फलों पर चालीस दिन तक रक्खा। मैं निडर हो गया था। बुखार हठीला था; पर वह कावू में आ गया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूँ।"

मुझे तो लगता है, और शायद औरों को भी लगे, कि गांधीजी का यह प्रयोग 'ऊंट-वैद्य' या 'नीम हकीम' का-सा प्रयोग था। यह जोखिम उठाना उचित नहीं था। "पर डाक्टर कहां शर्तिया इलाज करता है, और जो चीज धर्म के विपरीत हो, उसे हम जान बचाने के लिये भी कैसे करें?"

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी, उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गये। यह भी एक साधारण घटना थी। पर इसका जिक्र करने में भी वही ईश्वरवाद आता है। "मेरे प्रयोग पूर्णतः सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नहीं है। पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहाँ कर सकते हैं? मैं इन चीजों का जिक्र इसी नियत से करता हूँ कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे, उसे स्वयं अपने ऊपर ही इसकी

बजाय कीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी हैं। उनमें से कोई उपयोगी वस्तु ढूंढ निकालने का लोभ चल ही रहा है। और चूँकि ये प्रयोग सेवा के लिये-सेवा की दृष्टि से होते हैं, यदि ये भगवान् के भरोसे न हों तो काफी संकल्प-विकल्प और अशान्ति भी पैदा कर सकते हैं। जो हो, कहना तो यह था कि गांधीजी की ईश्वर-श्रद्धा हर काम हर समय कैसे गतिमान रहती है।

"मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं। पर जब मैं अपने बड़े-से-बड़े और छोटे-से छोटे कामों का लेखा लगाता हूँ, तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गये थे, ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं होगा। मैंने ईश्वर के दर्शन नहीं किये, पर उसमें मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप ले लिया है। शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना, यह सत्य की फजीहत होगी। इसलिये मैं कहूँगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिये मेरे पास कोई शब्द नहीं है।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भी वही 'रामनाम' साधकों के सामने रख देते हैं। "बिना उस प्रभु की शरण में गये विचारों पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न में, हर पल, मैं इस सीधे-सादे सत्य का अनुभव कर रहा हूँ।"

बा को अफ्रीका में भयंकर बीमारी ने आ घेरा, तब मांस के शोरवे का प्रश्न आया। बा और गांधीजी दोनों ने डाक्टर की राय को अस्वीकार किया। वहाँ भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहां भी गांधीजी के वही उद्गार थे। "ईश्वर में विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा" और अन्त में विजय हुई।

पर इससे भी छोटी घटनाओं में गांधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते हैं। स्वदेश लौट आने के बाद जब-जब वह दौरे पर जाते थे, तब-तब थर्ड क्लास में ही यात्रा करते थे। उस जमाने में गांधीजी के नाम से तो काफी लोग परिचित हो गये थे। पर आज की तरह सूरत-शक्ल से सब लोग उन्हें पहचानते नहीं थे। जहां जाते थे वहां लोगों को पता लगने पर दर्शनार्थियों की तो भीड़ लग जाती थी, जिसके मारे उन्हें एकान्त मिलना दुष्कर हो जाता था, पर गाड़ी में जहां लोग उन्हें पहचानते न थे वहां जगह मिलने की मुसीबत थी। और उन दिनों वह प्रायः अकेले ही घूमते थे।

वर्षों की बात है। गांधीजी लाहौर से दिल्ली जा रहे थे। वहां से फिर कलकत्ते जाना था। कलकत्ते में एक मीटिंग होनेवाली थी, इसलिये समय पर पहुँचना था। पर लाहौर के स्टेशन पर जब गाड़ी पकड़ने लगे तो गाड़ी में कहीं भी जगह न मिली। आखिर एक कुली ने उनसे बाहर आने की बख्शीश मिले तो बिठा देने का वायदा किया। उन्होंने बख्शीश देने का करार किया। पर जगह तो थी ही नहीं। एक डिब्बे के

लोगों ने कहा, "जगह तो नहीं है, पर चाहो तो खड़े रह सकते हो।" गांधी जी को जैसे-तैसे रेल में बैठना था, इसलिये खड़े रहना ही स्वीकार किया। कुली ने इन्हें खिड़की के रास्ते डिब्बे में ढकेलकर अपने बारह आने गांठ में दबाये।

अब रात का समय और खड़े-खड़े रात कटना। दो घंटे तक तो खड़े-खड़े समय काटा। कमजोर शरीर, रास्ते की थकान। फिर गाड़ी का शोरगुल, धूल और धुआँ और खड़े रहकर यात्रा करना। कुछ धक्का-मुक्की करना जानने वाले लोग तो लम्बी तानकर सो गये थे, पर इन्होंने तो बैठने के लिये भी जगह नहीं मांगी। कुछ लोगों ने देखा, यह अजीब आदमी है जो बैठने के लिये भी झगड़ा नहीं करता। अन्त में लोगों का कुतूहल बढ़ा। "भाई, बैठ क्यों नहीं जाते?" कुछ ने कहा। पर इन्होंने कहा, "जगह कहाँ है?" आखिर लोग नाम पूछने लगे। नाम बताया तब तो सन्नाटा छा गया। शर्म के मारे लोगों की गर्दन झुक गई। चारों तरफ से लोगों ने अपने हाथ-पाँव समेटने शुरू किये। क्षमा मांगी जाने लगी और अन्त में जगह दी और सोने का स्थान दिया। थककर प्राय: बेहोश-जैसे हो गये थे। सिर में चक्कर आते थे। स घटना का जिक्र करते समय भी गाँधी जी इसमें ईश्वर की अनुकंपा पाते हैं। "ईश्वर ने मुझे ऐसे मौके पर सहायता भेजी जबकि मुझे उसकी सख्त जरूरत थी।"

निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों के कष्ट काटने के लिये यह जब चम्पारन जाते हैं तो किसानों की सभा

करते हैं। दूर-दूर से किसान मीटिंग में आकर उपस्थित होते हैं। गांधी जी जब उस मीटिंग में जाते हैं तब उन्हें लगता है मानो ईश्वर के सामने खड़े हैं। "यह कहना अत्युक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि उस सभा में मैंने ईश्वर, अहिंसा और सत्य, तीनों के साक्षात् दर्शन किये।, और फिर जब पकड़े जाते हैं तो हाकिम के सामने जो बयान देते हैं वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है। उसमें भी अन्त में कहते है, "श्रीमान मजिस्ट्रेट साहब, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, यह इसलिये नहीं कि आप मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सजा दें। मैं केवल यही बता देना चाहता हूँ कि मैंने आपकी आज्ञा भंग की, वह इसलिये नहीं की मेरे दिल में सरकार के प्रति इज्जत नहीं है, पर इसलिये की ईश्वर की आज्ञा के सामने मैं आपकी आज्ञा मान ही नहीं सकता था।"

ये असाधारण वचन हैं। एक तरह से भयंकर भी हैं। क्या हो, यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाय? "अन्दरूनी आवाज" "अन्तर्नाद" या "अकाशवाणी" सुनना हरएक की किस्मत में नहीं बदा होता। इन चीजों के लिये पात्रता चाहिये। कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिये। सत्य चाहिये। साहस चाहिये। विवेक चाहिये समानत्व चाहिये। अपरिग्रह चाहिये। जो केवल सेवा के लिये ही जिन्दा है, जिसे हानि-लाभ में कोई आसक्ति नहीं, जिसने कर्मयोग को साधा है, जिसकी ईश्वर में असीम श्रद्धा है, जिसको अभिमान

छू तक नहीं गया, वही मनुष्य अन्तर्नाद सुन सकता है। पर झूठी नकल तो सभी कर सकते हैं। "मुझे अन्दरूनी आवाज कहती है", ऐसा कथन कई लोग करने लगे हैं। गांधीजी की झूठी नकल अवश्य ही भयप्रद है, पर कौन-सी अच्छी चीज का संसार में दुरुपयोग नहीं होता ?

पर प्रस्तुत विषय तो गांधीजी की ईश्वर में श्रद्धा दिखाना है। लड़के का बुखार छूटता है तो ईश्वर की मर्जी से, गाड़ी में जगह मिलती है तो ईश्वर की मर्जी से, और सरकारी हुक्म की अवज्ञा होती है तो ईश्वर की आज्ञा से। ऐसे पुरुष के साथ कभी-कभी सांसारिक भाषा में बात करनेवालों को चिढ़ होती है। वाइसराय विलिंग्डन को भी चिढ़ थी। पर आखिर गांधीजी के बिना काम भी तो नहीं चलता। चिढ़ हो तो हो। पेचदार भाषा की उलझन सामने होते हुए भी काम तो उन्हींसे लेना है। राजकोट में जब आमरण उपवास किया, तब वाइस-राय लिनलिथगो ने इन्हें तार भेजा कि उपवास करने से पहले आप कम-से-कम मुझे सूचना तो दे देते। आप तो मुझे जानते हैं, इसलिये एकाएक आपने यह क्या किया ?" गांधी-जी ने लिखा, "पर मैं क्या करता ? जब अन्तर्नाद होता है, तब कैसी सलाह और कैसा मशविरा ?"

बात-बात में ईश्वर को सामने रखकर काम करने और बात कहने की इनकी आदत, यह कोई अव्यावहारिक वस्तु नहीं है। बात यह है कि गांधीजी की हर चीज में जो धार्मिक दृष्टि है

वह हम सबके लिये समझाना कठिन है। उनकी ईश्वर के प्रति जीती-जागती सतत श्रद्धा को हम समझ नहीं सकते। इसलिये हमें कभी परेशानी तो कभी चिढ़ होती है। पर यदि हम बेतार के तार के विज्ञान को पूरा न समझते हों, तो क्या उस वैज्ञानिक से परेशान हो जायँगे जो हमें इस विज्ञान को समझाने की कोशिश करता हो? क्या हम उस वैज्ञानिक से चिढ़ जायेंगे, जो हमसे वैज्ञानिक भाषा में उस विज्ञान की चर्चा करता है जिसे हम समझ नहीं पाते; क्योंकि हम उस भाषा से अनभिज्ञ हैं? गांधीजी का भी वही हाल है। अध्यात्मविज्ञान के मर्म को उन्होंने पढ़कर नहीं, बल्कि आचरण द्वारा पहचाना है।

गांधीजी में जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। हिन्दू-धर्म की खोज की। ईसाई-मत का अध्ययन किया। इस्लाम के ग्रंथ पढ़े। जरथुस्त्र की रचनाएँ पढ़ीं। चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्षपात के सब धर्मों के तत्त्व को समझने की कोशिश की। आसक्ति रहित होकर सत्यधर्म को, जो गुफा में छिपा था, जानने का प्रयत्न किया। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। इससे उनकी निरपेक्षता बढ़ी, उनका प्रयत्न तेजस्वी बना, पर उन्हें सत्य मिला। उनमें बल आया। उनमें नीर-क्षीर-विवेक आया। साथ ही निश्चयात्मक बुद्धि भी प्रबल हुई। उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे। अन्तर्नाद सुनाई देने लगा। इस अन्तर्नाद की चर्चा में उनका संकोच भागा।

गांधीजी का आश्रम-जीवन

श्रीप्रभुदयाल विद्यार्थी

गांधीजी आज के विश्व के महान् नेता थे। भारतवर्ष और वर्त्तमान पीढ़ी का सौभाग्य है कि ऐसे महापुरुष का जन्म भारत में हुआ। संसार-प्रसिद्ध महान् स्वाभिमानी और स्वतन्त्र विचारक रोमाँ रोलाँ ने महात्मा गांधी के सम्बन्ध में एक जगह लिखा है—'यह वह पुरुष था, जिसने तीस करोड़ मनुष्यों में क्रान्ति उत्पन्न करके अंगरेजी साम्राज्य की नींव हिला दी है। और जिसने मानव-राजनीति में गत दो हजार वर्षों की प्रबलतम धार्मिक शक्ति का प्रचार किया है।" लार्ड स्ट्रेबोलगी ने लिखा है—"१९३० में जब मैं साबरमती-आश्रम में मिस्टर गांधी से मिला, तो मैंने अनुभव किया कि यहाँ एशिया का सब से महान् पुरुष निवास करता है। वह संसार के उन तीन-चार आदमियों में से एक है, जो लाखों-करोड़ों लोगों को अपनी मनोभावना के इशारे पर चलाया करता है।" डब्ल्यू० ग्रियर्सन ने भी लिखा है—"गांधी अकेला आदमी है, जो अपनी रक्षा की कभी चिन्ता नहीं करता और जो अपने मान्य सिद्धान्तों को पेश करते समय भय या सुलह की भावना को जरा भी तरजीह नहीं देता है।"

गांधीजी का जीवन इतना विशाल और व्यापक है कि उसकी पूरी समीक्षा करने का प्रयत्न हिमालय का मानचित्र

बनाने से भी अधिक कठिन है। किन्तु उनके विस्तृत अस्तित्व का जो एक अत्यन्त आकर्षक और मनमोहक अंश है, वह है उनका आश्रम-जीवन। अपने आश्रम में गांधीजी सबसे पारिवारिक सम्बन्ध-सा रखते थे। इसलिये आश्रमवासी उन्हें अपना माता-पिता समझकर 'बापू' के नाम से सम्बोधित करते और लिखते थे। बापूजी आश्रम में जहाँ तक हो सकता था, सादगी के जीवन पर ही अधिक जोर देते थे और स्वयं अपना जीवन भी बहुत सरल और सीधे ढंग से व्यतीत करते थे। वे नित्य आश्रम की छोटी-बड़ी चीजों की देख-भाल स्वयं करते थे—जैसे आश्रम में कहाँ से कौन अतिथि आया और क्यों आया, आदि का पता समय-समय पर वे स्वय लिया करते थे। अतिथियों को ठहरने तथा भोजन, नाश्ता आदि का प्रबन्ध बापू स्वयं करते थे। कौन क्या भोजन करता है और कब करता है, आदि सब बातें पहले ही जान लेते थे। मेहमानों से वे अधिकतर अपने सामने या बगल-बगल में बैठकर खाने का आग्रह करते थे। अतिथियों की थाली में भोजन भी प्रायः स्वयं ही परोसते थे। खाने-पीने की सारी चीजों का ध्यान बड़ी सावधानी से रखते थे। मेहमानों को वे बिना कुछ खाये-पिये बाहर जाने की अनुमति नहीं देते थे। आश्रम में किसको क्या चाहिये, इसका भी वे बराबर ख्याल रखते थे। उनको एक छोटी-सी वस्तु से लेकर बड़ी वस्तु तक का पूरा ख्याल बना रहता था।

वापू को अपने आश्रम के कुटुम्बों में सबसे प्यारे मरीज थे। मरीजों की सेवा वे स्वयं करते थे। किस मरीज को क्या पथ्य देना चाहिये और क्या नहीं देना चाहिये आदि वातों का निर्णय भी वे स्वयं ही करते थे। मरीजों के साथ घंटों उनके सिरहाने वैठकर या खड़े होकर सारी वातों की पूछ-ताछ और दवा-दारू की व्यवस्था करते थे। मैंने कई वार उन्हें स्वयं मरीजों के शरीर पर मालिश करते और पट्टी आदि वाँधते हुए देखा था। अपने जरूरी-से-जरूरी कामों को वन्द करके वे रोगियों की सेवा करते थे। रोगियों को नित्य देखना उनका एक अनिवार्य-सा काम था। रोगियों की हर प्रकार से सेवा करने के लिये तैयार रहते थे। गम्भीर-से-गम्भीर रोगी को भी हर समय प्रसन्न रखने की कोशिश करते थे। हर तरह से उन्हें आशा वँधाने की कोशिश करते थे। मरीजों को जरा भी यह अनुभव नहीं होने देते थे कि वीमारी अच्छी नहीं होगी। इस तरह वे हँसाते-खेलाते हुए उन्हें चंगा वना देते थे।

गांधीजी को वच्चे वहुत प्यारे थे। वच्चों को अपने साथ विठाकर भोजन कराने में उन्हें वड़ा आनन्द आता था। वच्चों से कहकहा लगाकर हँसते और उन्हें हँसाते थे। उनकी वातों को वहुत ध्यान से सुनते थे। जितनी दिलचस्पी से वे वर्किंग कमीटी के प्रस्तावों को सुनते थे, उससे कहीं अधिक वच्चों की वातों पर ध्यान देते थे। हम सव को कभी यह भान तक नहीं होता था कि वापू ही महात्मा गांधी थे! महात्माओं की तरह कभी

उन्हें उपदेश देते हुए नहीं सुना था। जब कभी कुछ काम लेना होता, तब सब से पहले स्वयं उस काम को अपने हाथ से शुरू करते थे। सबको थाली में खाना परोस देते थे। साग काटते थे। गेहूँ साफ करते थे। हम सब जिस क्षण चाहें, उनसे मिल सकते थे। सोते समय जगा कर अपनी छोटी-सी-छोटी बात के लिये उन्हें तंग करते थे। स्नान-गृह में जाकर उनके साथ बातें करते थे। लिखना रोककर अपनी कहानी सुना सकते थे। कभी उन्हें यह कहते नहीं सुना कि मैं तंग आ गया हूँ। अभी पिछले महीने यहाँ वर्किंग-कमीटी की महत्त्वपूर्ण बैठक हो रही थी। बापू का स्वास्थ्य भी खराब था; लेकिन रोज सुबह नाश्ते के समय किसी-न-किसी को यह कहते सुनता था—"बापू, गेहूँ, ज्वार बहुत महँगे हो गये हैं। मैंने इतना गेहूँ खरीदा है, इतनी ज्वार बेच दी है। चीनी खत्म हो गई है। गुड़ लेना है। पेट खराब रहता है, क्या लूँ? गर्म पानी और नीबू लेना ठीक है या नहीं? सिर में दर्द है। उपवास करूँ या नहीं?" बापू सारी बातों को बहुत ध्यान से सुनकर एक-एक प्रश्न का जवाब देते थे। खुद की तन्दुरुस्ती तो खराब थी; पर अपने मरीजों का पूरा ध्यान रखते थे। बिस्तर पर लेटे 'हरिजन' के लिये लेख लिखते समय भी आये हुए लोगों को सलाह देते थे। डाक्टर मना करते हैं कि किसी से बातें न करें, फिर भी अपने परिवार के इन सदस्यों के साथ बातें करने से वे कभी बाज नहीं आते थे।

सेवाग्राम में बापू के रहने के लिये मिट्टी की एक छोटी-सी स्वच्छ हवादार झोपड़ी थी। उसमें मुश्किल से दो-तीन आदमी आराम से रह सकते थे; लेकिन उस छोटी-सी झोपड़ी में भी बहुत से लोग रहते थे। बापू के हाथ-पैर धोने का वहीं 'बाथ'-रूम' था, लिखने-पढ़ने का कार्यालय था, सोने-बैठने की जगह थी, मेहमानों को ठहरने की जगह थी और आये हुए विदेशी लोगों से मिलने का स्थान भी था। वहीं कांग्रेस-कार्य-समिति, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, गो-सेवा-संघ, ग्राम-उद्योग-संघ, चर्खा-संघ और हरिजन-सेवासंघ के कार्यकर्त्ता सलाह-मशविरा करते थे। छोटी-सी-झोपड़ी में कुल काम बड़े मजे से गांधीजी करते रहते थे। बगल में ही कोई ज्वर का पीड़ित रोगी पड़ा रहता था और दूसरे कमरे में आचार्य नरेन्द्रदेवजी दमे की बीमारी से पड़े रहते थे। बापू का कमरा एक सराय के मानिन्द था। कमरे में भीड़-भाड़ हमेशा लगी रहती थी।

कमरे में ताड़ के पत्तों की बनी चटाइयाँ बिछी रहती थीं। बापू सब काम जमीन पर बैठकर करते थे। काम के बोझ के कारण कभी-कभी रात के दो बजे जगकर पत्रों के उत्तर लिखने लगते थे। सुबह ४ बजे से रात के १० बजे तक कामों का पहाड़-सा लगा रहता था। हालाँकि उनकी आयु ७८ साल की हो गई थी, फिर भी काम करने में उनमें जरा भी सुस्ती नहीं आई थी। काम का बोझ दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा था। कमरे में टीम-टाम की कोई चीज देखने को न मिलती थी।

मिलनेवाले भी ताड़ के पत्तों की चटाइयों पर ही बैठकर बातें करते थे। लड़के भी वहीं आकर खेलते थे।

बापू के अगल-बगल पत्रों का ढेर लगा रहता था। वे लालटेन की रोशनी में ही सब काम करते थे। मामूली-सा दफ्तर होते हुए महान् राष्ट्र का संचालन कितनी सावधानी से करते थे—यह बापू के जीवन को देखकर ही अनुमान लगाया जा सकता है। बापू का कमरा पूर्ण रूप से अजायबघर बना था। जब कोई बाहर का मिलनेवाला उनसे प्रश्न करता था—"आप ऐसा जीवन क्यों बिताते हैं ?" तब गांधीजी मुस्कुराते हुए कहते थे—"मेरे आसपास शिव की बरात है।" दिन-रात इधर-उधर बहुत शोर-गुल होते हुए भी वे अपना काम बड़ी सरलता से करते थे। बापू को अकेले में बहुत ही कम देखने का अवसर मिलता था। अक्सर कोई-न-कोई उनसे मिलने के लिये पहुँचा ही रहता था। गांधीजी स्वयं कभी-कभी कहा करते थे—'मेरा निवास-स्थान तो मधु-मक्खियों के छत्ते-जैसा है।' कमरे के आलों में कहीं चर्खा रक्खा है, तो कहीं धुनकी है और कहीं मरीजों के लिये दवाएँ हैं।

गांधीजी के निवास-स्थान से लगे हुए कमरे में फोन रक्खा था। घंटी बजती रहती थी। टाइप होता रहता था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर दवाखाना मिलता था, जहाँ गरीब लोगों को मुफ्त दवाएँ दी जाती थीं। पट्टी बाँधी जाती थी। रोगी कराहता रहता था, चिल्लाता रहता था। कुछ और आगे बढ़ने पर 'बा' का निवास-स्थान था, जहाँ बहनों की धर्मशाला थी। बगल में ही

भोजन-शाला थी। माता कस्तूर 'बा' रोटी सेंका करती थीं। डबल-रोटी बनती थी। सब लोग साथ बैठे हुए रोटी पकाया करते थे, साग काटा करते थे। आटे की चक्की की घर्र-घर्र आवाज आती रहती थी। छोटे-छोटे बच्चे पेड़ के नीचे कुछ पढ़ते हुए मिलते थे। गांधीजी की झोपड़ी के सामने लकड़ियों का ढेर लगा हुआ रहता था। आश्रम की घंटियाँ क्रमशः बजती रहती थीं। जब कभी प्रार्थना की घंटी नहीं बजती, तो बापू स्वयं बजाने जाया करते थे। इधर-उधर रद्दी पड़े हुए कागजों के टुकड़ों को गांधीजी स्वयं उठाकर साफ कर दिया करते थे।

गांधीजी अपने खाने के सामान बहुत ही कम दामों के रखते थे और बहुत ही थोड़े। कभी लोहे के तसले में भोजन करते थे, तो कभी लकड़ी के बरतन में और कभी मिट्टी के बरतन में। पानी पीने के लिये शीशे की एक बोतल थी। वे आश्रम में खाने-पीने का कोई-न-कोई नया प्रयोग किया ही करते थे। प्रयोग करते-करते कभी-कभी अपने जीवन को भी खतरे में छोड़ देते थे। आश्रम के सारे नियमों का गांधीजी बड़ी कड़ाई से पालन करते थे, और दूसरों को नियम पालन करने की सलाह देते थे। किसीके ऊपर ऐसा कोई नियम नहीं लादते थे, जिसका पालन वह न कर सके। अपने ही ऊपर कड़े-से-कड़ा प्रयोग करते रहते थे। सेवाग्राम में बापू किसी नाई से बाल न बनवाकर अपने बाल अपने हाथ से बनाया करते थे। सुबह-शाम लोगों के साथ एक मील तक घूमने जाते थे। वर्षा आने के लिये पाँच

मील की दूरी अक्सर पैदल ही चलकर पूरी करते थे। दैनिक समाचारपत्र १२ बजे दिन के लगभग पढ़ते थे। अक्सर 'बाम्बे क्रानिकल' और 'टाइम्स आफ इण्डिया' पढ़ते थे। अन्य पत्रों की कटिंग पढ़ते थे। पत्रों की कटिंग का ढेर लगा रहता था।

बापू के जीवन की प्रत्येक चीज सर्वत्र दीख पड़ती है; किन्तु उनके जीवन की सरलता का यथार्थ अनुभव उनके निकट के जीवन से ही देखा जा सकता था।

बापू की देन

डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय राजनीति में गांधीजी की देन महान् है। जब वह दक्षिण अफ्रीका से १९१५ में अन्तिम रूप से स्वदेश लौट आये, तब भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को स्थापित हुए तीस वर्ष हो चुके थे। कांग्रेस ने एक हद-तक राष्ट्रीय भावना जाग्रत और संगठित कर दी थी; लेकिन यह जागरण मोटे रूप से केवल अंगरेजी पढ़े-लिखे मध्यमर्गीय लोगों तक ही सीमित था। जनता में उसने प्रवेश अभी नहीं पाया था। जनता तक उसे महात्मा गांधी ले गये और उसे जन-आन्दोलन का स्वरूप दे दिया। महात्मा गांधी का आन्दोलन जहां व्यापक था वहाँ वह गहरा भी था। उन्होंने वे कार्य-योजनाएँ हाथ में लीं, जो नितान्त राजनैतिक नहीं थीं, बल्कि जनता के एक बड़े हिस्से के जीवन में बहुत घुली-मिली थीं। एक शताब्दी या इससे अधिक काल से गोरों के लाभ के लिये जबरन नील पैदा करने की अन्यायपूर्ण प्रणाली से कष्ट उठाते आ रहे थे निलहे खेतिहरों और मजदूरों की ओर से चम्पारन में किये गये उनके सफल सत्याग्रह से कांग्रेस की हलचल एकदम जन-अन्दोलन की सीमा तक जा पहुँची। अन्याय समझे जानेवाले लगानबन्दी के हुक्म की दुबारा जाँच करने के लिये किये गये खेड़ा के उनके उतने ही सफल सत्याग्रह ने भी उस

जिले की जनता पर वैसा ही असर डाला। अब कांग्रेस की राजनीति, देश की ऊँची-ऊँची पब्लिक सर्विसों में अधिक हिस्सा या गवर्नरों की शासन-समितियों में ज्यादा जगह दिये जाने की मांगों तक ही सीमित नहीं रह गई। अब वह थकी-मांदी जनता की तकलीफों से अभिन्न होकर ही नहीं रही, बल्कि उनको दूर कराने में भी सफल हो सकी। इन सब प्रारम्भिक (१६१७ और १६१८ के) आन्दोलनों से लेकर अबतक अनेक आन्दोलन ऐसे चले हैं और उन सब में ध्येय यही रहा है कि किसी एक श्रेणी या समूह को ही न पहुँच कर व्यापक-रूप से समस्त जनता को उसका फायदा पहुँचे। कष्ट-निवारण के लिये सिर्फ ब्रिटिश हितों अथवा ब्रिटिश सल्तनत के ही खिलाफ लड़ाई नहीं छेड़ी गई, बल्कि उसने बिना हिचकिचाहट के भारतीय हितों और गलत धारणाओं को भी उतनी ही ताकत से धक्का पहुँचाया है। इस प्रकार उनकी जाग्रत आँखों से भारतीय कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की असन्तोप-प्रद हालत छिपी नहीं रह सकी और सबसे पहले जो काम उन्होंने उठाये, उनमें से एक अपने लिये अच्छी स्थिति प्राप्त करने के वास्ते लड़ने में अहमदाबाद के मजदूरों को मदद करना भी था। दलित जातियों की दुःखभरी किस्मत ने अनिवार्य रूप से हिन्दुओं की अस्पृश्यता-जैसी दूषित और दुष्टतापूर्ण प्रथा को निष्ठुरतापूर्वक मिटा डालने के आन्दोलन को जन्म दिया और महात्मा गांधी ने अपने प्राणों तक की बाजी लगा-

लगाकर उसका संचालन किया। कांग्रेस-संगठन का विस्तार भी इतना हुआ कि इस विशाल देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक वह व्याप्त हो गया और आज लाखों स्त्री-पुरुष उसके सदस्य हैं। लेकिन संख्या-मात्र जितना बता सकती है उससे कहीं अधिक व्यापक कांग्रेस का प्रभाव हुआ है। उस प्रभाव की गहराई की परीक्षा इसीसे हो चुकी है कि जनता उसके आमंत्रण पर त्याग और कष्ट-सहन की भीषण आँच में से निकल सकी है।

परन्तु महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन यह नहीं है कि भारत की जनता में राजनैतिक चेतना उत्पन्न करदी और उसे एक अभूतपूर्व पैमाने पर संगठित किया। मेरी समझ में तो, भारत की राजनीति को और सम्भवतः संसार की पीड़ित मानव-जाति को, उन्होंने जो सबसे बड़ी चीज दी है, वह है बुराइयों से लड़ने का वह बेजोड़ तरीका—जिसे उन्होंने प्रचलित और कार्यान्वित किया। उन्होंने हमें सिखाया है कि बिना हथियार के शक्तिशाली ब्रिटिश-साम्राज्य से सफलता के साथ किस प्रकार लड़ा जा सकता है। उन्होंने हमें और संसार को युद्ध का नैतिक स्थान ग्रहण कर सकनेवाली वस्तु दी है। उन्होंने राजनीति को, जो की धोखाधड़ी और असत्य से भरी हुई थी, जो गिरी-से-गिरी हालत में नीच षड्यन्त्रों की स्थिति में पहुँच गई थी और ऊँची-से-ऊँची स्थिति में कूटनीतिपूर्ण दुमानी गोल-मोल भाषा और गुप्त चालों से ऊँची न उठ सकती

थी, ऊपर उठाकर एक ऐसे ऊँचे आदर्श पर पहुँचा दिया है; जिसमें कि कितने ऊँचे उद्देश्यों के लिये, किसी स्थिति में भी, दोषपूर्ण और अपवित्र साधनों का उपयोग नहीं किया जा सकता। उन्होंने राजनीति में भी सचाई को गौरव के उच्च मंच पर आसीन किया है, फिर चाहे उसका तात्कालिक परिणाम कितना ही हानिप्रद क्यों न लगता हो! हमारी कमजोरियों और बुराइयों को भी स्पष्टरूप से जान-बूझकर तथा कथित शत्रुओं के सामने खोलकर रख देने की उनकी आदत ने पक्षियों और विपक्षियों दोनों को हैरान कर दिया है। लेकिन उनके मत में हमारी शक्ति अपनी कमजोरियों को छिपाने में नहीं, वल्कि उन्हें समझकर उनसे लड़ने में निहित है। यह वात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि जहाँ अहिंसा की थोड़ी-सी अवहेलना या आपूर्णता भले ही अस्थायी लाभ ला सके, वहाँ भी अहिंसा का कठोर पालन सबसे सीधा रास्ता ही नहीं है, वरन् सबसे अधिक चतुराई की नीति भी है। उनकी शिक्षाओं के भीतर नैतिक और आध्यात्मिक स्फूर्ति थी, जिसने लोगों की कल्पना को प्रभावित किया। लोगों ने देखा और समझ लिया कि जब चारों ओर घना अन्धकार है, ऐसी स्थिति में हमारी गरीबी और गुलामी में से छुटकारे का रास्ता दिखलानेवाले वही हैं। जब हम अपनी निपट बेबसी महसूस कर रहे थे तब उन्होंने सत्य और अहिंसा के द्वारा अपनी शक्ति को पहचानने की हमें प्रेरणा दी। मनुष्य आखिर अस्त्र और शस्त्र के साथ

नहीं जन्मा। न उसके चीतेके से पंजे ही हैं और न जंगली भैंसे के-से सींग। वह तो आत्मा और भावना लेकर उत्पन्न हुआ है। फिर वह अपनी रक्षा और उन्नति के लिये इन वाहरी वस्तुओं पर क्यों अवलम्बित रहे? महात्मा गांधी ने हमें सिखाया है कि अगर हम मौत और विनाश पर भरोसा रक्खेंगे तो वे हमारी वाट देखते रहेंगे। उन्होंने हमें सिखाया है कि अगर हम अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत कर लें तो जीवन और स्वतन्त्रता हमारे हाथ रहेंगे। दुनिया में कोई ताकत ऐसी नहीं है कि एक वार उस अन्तरात्मा के जाग पड़ने पर, एक बार इन वाह्य वस्तुओं और परिस्थितियों का अवलम्वन छोड़ देने पर और एक वार आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेने पर वह हमें गुलामी में रख सके। भारत शनैः-शनैः किन्तु उतनी ही दृढ़ता और निश्चय के साथ उस आत्मिक वल को प्राप्त कर रहा है और उस आत्मिक वल के साथ अदम्य भी वनता जा रहा है। परमात्मा करे कि वह सत्य और अहिंसा के इस सँकरे किन्तु सीधे मार्ग से विचलित न हो, जो उसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में चुन लिया है। यही है महात्माजी का भारतीय राजनीति पर सवसे वड़ा ऋण, और यही होगी दुनिया की मुक्ति में भारत की एक अमर देन।

———

डांडी की ओर

श्रीसुमंगल प्रकाश

१२ मार्च १९३० को सवेरे ६॥ बजे साबरमती आश्रम से गांधीजी के सेनापतित्व में नमक-सत्याग्रह करनेवाला पहला दल रवाना हुआ। यह यात्रा इतिहास में डांडी-यात्रा के नाम से मशहूर है। गांधीजी को मिला कर इस दल में प्रस्थान के समय ७९ आदमी थे; पीछे जाकर इस संख्या में कुछ वृद्धि हुई। गांधीजी को छोड़ कर सभी 'सैनिकों' के सिर पर सफेद गांधीटोपी थी; यही डांडी-यात्रियों की एकमात्र समान-पोशाक थी। बाकी बातों में यात्रियों की विषमता का कोई ठिकाना नहीं था। हिन्दुस्तान के प्रायः सभी प्रान्तों के निवासी उस दल में थे। वेशभूषा में भी अधिक-से-अधिक विभिन्नता थी। कुछ सफाचट मूँछ-दाढ़ीवाले थे तो कुछ लम्बी-चौड़ी, बढ़ी हुई, मूँछ-दाढ़ीवाले भी। और कुछ ऐसे भी थे जिनके अभी तक मूँछ-दाढ़ी के चिह्न भी नहीं दिखाई दिये थे, अर्थात् किशोर-वयस्क! पोशाक में यदि कुछ चप्पल, धोती, कुरता और टोपीवाले—अर्थात् पूरे भलेमानस—थे तो कुछ चप्पल के ऊपर लुंगी और उसके ऊपर ढीलाढाला कुरता और टोपी पहने थे; कुछ पूरी धोती पर नंगे बदन थे; कुछ कुरते की जगह चादर ओढ़े हुए थे; और कुछ बिलकुल नंगे पैर, खुले बदन—केवल एक लुंगी और ऊपर से शुभ्र गांधीटोपी, जो सिर पर इस

तरह सम्यक रूप से रख ली गई थी कि माथा बिलकुल ही छिप गया था। तुलसीदास ने रामचरितमानस में शिव की बरात का जो वर्णन किया है, बहुत कुछ वही उस दल पर चरितार्थ होता था।

इस 'सेना' के 'मार्च (कूच) का तरीका भी अपने अनोखे ही ढंग का था। दो-दो 'सैनिकों' के पीछे दो-दो सैनिक खड़े हो जाते थे और इस प्रकार एक दोहरी कतार जरूर बन जाती थी; पर उनके कूच में कोई फौजी व्यवस्था नहीं थी। चलने का मार्ग जैसा हुआ उसी के अनुसार 'फौज' अपनी रूप-रेखा बदल डालती थी। चौड़ी सड़क पर चार-चार भी एक साथ हो जाते थे और कभी-कभी तो कोई भी तरतीब नहीं रहती थी। कभी-कभी एक-एक की कतार भी हो जाती थी। यह भी अकसर होता था कि कुछ 'सैनिक' बहुत आगे बढ़ गये, कुछ बीच में रह गये, और कुछ पीछे पड़ गये। सेनापति गान्धी बिना पीछे का खयाल रक्खे बराबर तेजी से कदम बढ़ायें चलते जाते थे, और अकसर दूसरों के लिये उनका साथ रखना मुश्किल हो पड़ता था। अक्सर तो यही देखा जाता था कि वह अकेले बढ़े जा रहे हैं—दोनों कंधों से दो छोटे छोटे थैले लटकाये, एक हलकी चादर ओढ़े, लुंगी कसे, चप्पल पहने—और उनके पीछे पीछे उनके निकट रहने की कोशिश में हाँफते से प्यारेलाल, जगनलाल जोशी, आदि दो-चार 'बड़े सैनिक!'

साथ में झण्डा-वण्डा कुछ भी नहीं था। बैंज भी कोई नहीं

था। यात्रा के कुछ दिनों के बाद एक बार राष्ट्रपति जवाहरलाल नेहरू ने भारत के नकशे का एक एक बैज हर 'सैनिक' की पोशाक में लगे रहने का गान्धीजी ने आग्रह किया था। गान्धीजी ने शायद इसे राष्ट्रपति का 'बचपन' समझ कर हँसते हुए स्वीकार कर लिया था और तब से हर एक 'सैनिक' के के पास एक बैज भी हो गया था जो कि टोपी की दाहिनी ओर, किसीकी टोपी की बाईं ओर, किसीके कुरते पर दाहिनी छाती पर, किसी के कुरते पर बाईं छाती पर, और किसी की चादर पर ही सुशोभित होगया था। गान्धीजी की चादर पर, सुनते थे, जवाहरलालजी ने स्वयं एक बैज लगा दिया था, पर वह कभी बाद को दिखाई नहीं दिया। सुना यह जाता था कि गान्धीजी राष्ट्रपति की इच्छा का सम्मान करने के लिये बैज लगाये जरूर रहते थे, पर वह चादर के ऊपर नहीं, चादर के भीतर रहता था!

१२ मार्च १९३० को सवेरे ६॥ बजे जब गांधीजी और उनके अनुयायियों ने डांडी के लिये प्रस्थान किया तब साबरमती आश्रमवाली सड़क पर बीसों हजार नर-नरियों की भीड़ थी। इनमें से अधिकांश नर-नारी अड्डा जमाये हुए थे। जिस समय प्रस्थान हुआ उस समय भीड़ देखने लायक थी। स्वयंसेवकों की दो कतारें बाँहों की जंजीर बनाये डांडि-यात्रियों के दोनों ओर निरंतर चल रही थीं। यदि जरा देर के लिये भी इन मानव-जंजीरों का कोई हिस्सा टूट गया होता तो बेचारे

डांडी-यत्रियों में से कितने सदा के लिये धाराशायी हो जाते, इसका अन्दाजा नहीं किया जा सकता। इतना तो मैंने देखा ही कि हमारे साथियों में से किसी किसी की कोई चीज़ उसके झोले में से असावधानी के कारण जब गिर पड़ी तो उसे उठाने की कल्पना तक वह नहीं कर सका, क्योंकि क्षण भर के लिये भी उस गतिशील भीड़ में उसका रुक सकना या झुक सकना सर्वथा असम्भव था।

तीन चार मील चलने के बाद हम लोग 'एलिस ब्रिज' के निकट पहुँचे। साबरमती नदी का यह विशाल पुल साबरमती वाली सड़क को अहमदाबाद की सड़क से जोड़ता है। यह पुल पार होते ही अहमदाबाद शहर शुरू हो जाता है। इस पुल पर इतनी जबर्दस्त भीड़ थी कि इस रास्ते गांधीजी को ले जाना खतरे से खाली नहीं समझा गया। इसलिये साबर नदी को पैदल पार करना ही ठीक समझा गया। पुल के कुछ और आगे जाकर हमलोग साबरमती नदी की विशाल बालुकामय गोदी में घुस गए। गरमी का मौसम शुरू हो गया था और नदी में कहीं भी घुटने भर से अधिक पानी नहीं था। जहाँ से नदी सबसे अधिक आसानी से पार की जा सकती थी, वहीं हमलोग नदी में जा घुसे। पानी और बालू मिला कर नदी का पाट आधे मील से कम तो नहीं होगा। जिस समय हमलोग नदी के बीच में थे, उस समय सहसा जो मैंने दाहिने-बायें और आगे-पीछे देखा तो उस अपार जन समूह की विशालता

से मैं अभिभूत हो गया। यदि एक ढोलक नदी के तट से दूसरे तट तक मानव-मुण्डों के ऊपर होकर लुढ़काई जाती तो वह रास्ते में कहीं भी न गिर कर अन्त तक मुण्डों ही मुण्डों पर लुढ़कती पहुँच जाती—इस तरह एक तट से दूसरे तट तक मानव-मुण्ड बिछे हुए दिखाई दे रहे थे।

नदी पार करके हमलोग प्रायः देहात में पहुँच चुके थे। अहमदाबाद शहर एक किनारे छूट चुका था। हमारा पहला पड़ाव जिस गाँव में था वह साबरमती आश्रम से १२ मील दूर था। ४ मील के करीब हम चल चुके थे। हमारे साथ-साथ इतनी अधिक भीड़ के चलने के कारण धूल इतनी अधिक उड़ रही थी कि आसपास कुछ दूर तक हमलोग कुछ भी नहीं देख पाते थे। साँस लेने में काफी कष्ट हो रहा था। गांधीजी ने भीड़ से प्रार्थना की कि अब वे वापस लौट जायें। पर भीड़ का जोश इतनी जल्दी ठण्डा होनेवाला नहीं था।

कुछ दूर और हम लोग इसी तरह चले। सहसा अब एक और नई समस्या आ खड़ी हुई। नदी के पार पहले से ही सिनेमा कम्पनियों की कई बड़ी-बड़ी मोटर-लारियाँ पूरे साज-समान के साथ मौजूद थीं। इन लोगों ने हमें अपना निशाना बनाना शुरू कर दिया। इनका स्वार्थ इसमें था कि हमलोगों की यात्रा के सभी पहलुओं के चित्र वे लें। इसके लिये यह जरूरी था कि वे कभी पीछे रहें, कभी इधर सेदौड़ कर बाजू में आ जायें, और कभी उसी तरह एकदम आगे। कई मोटर-

साथियों ने जो चारों तरफ से यह दौड़ मचानी शुरू की तो सारा रास्ता धूल से भर गया। धूल में ताकते ताकते हमारी आँखें बिलकुल लाल हो गईं, साँस लेने में हवा की जगह धूल का ही भाग विशेष रहने लगा, और खाँसते-खाँसते हमलोगों को आफत आ गई।

आखिर गांधीजी को कुछ मील और चलने के बाद रुक जाना पड़ा। उनके रुकते ही सब लोग रुक गये। गान्धीजी ने अपनी पीठ फेरी और अपने पीछे आने वालों की ओर मुँह करके खड़े हो गये। मैं तो उनका चेहरा देखते ही स्तम्भित रह गया। यह कैसी शक्ल है गान्धीजी की! शरीर का जितना हिस्सा खुला हुआ था उसमें चमड़ा कहीं लेशमात्र भी नजर नहीं आता था। मालूम होता था, मिट्टी का तैयार किया हुआ जीवित पुतला खड़ा है। केवल पलक हिलने पर वही तेज चमकीली आँखें दिखाई पड़ती थीं—इस तरह धूल की एक मोटी पर्त उनके सारे शरीर पर जम गई थी। अभी तक हम-लोग आगे ही देखते चल रहे थे, साथियों में से भी किसी का चेहरा मैंने काफी देर से नहीं देखा था। गान्धीजी के चेहरे पर इतनी धूल जमी देखकर मुझे अपने साथियों कि ओर ताकने का ख्याल आया। और तब मैंने विस्मित हो कर देखा कि सभी गान्धीजी के प्रतिरूप बने हुए थे, और मैं भी मिट्टी की मोटी पर्त अपने चेहरे पर, हाथों पर, पांवों पर चढ़ाये हुए था!

वहाँ एक बड़ा वृक्ष था। उसी के नीचे गान्धी जी ने डेरा

डाला और सारी भीड़ को बैठ जाने के लिये कहा। पास ही एक तालाब था। हम सब ने वहाँ जाकर अपने शरीर पर से धूल धोई। मुझे ठीक याद है कि दोनों हाथों में पानी भर कर जब पहली बार मैंने अपना चेहरा धोया तो मेरे हाथ में पानी की जगह खूब गाढ़ी कीचड़ रह गई थी।

साथ आने वाली भीड़ से लौट जाने का अनुरोध करते हुए बापू ने एक छोटा-सा भाषण दिया, और उसके बाद यात्रा फिर जारी हो गई। थोड़े से अत्यन्त हठी लोगों को छोड़ बाकी सारी भीड़ बापू के अनुरोध की रक्षा कर आगे बढ़ने से विरत हो गई और उस भयंकर धूल से हमें छुट्टी मिली।

अपने पहले पड़ाव तक पहुँचने के पूर्व राह में हमें कई गाँव मिले जिनके निवासियों ने बापू के स्वागत की कम तैयारी नहीं की थी। गाँव से काफी पहले ही हमें ग्रामवासी नर-नारियों का एक दल गाजे-बाजे के साथ मिलता जिसका नेता बापू की अभ्यर्थना करते हुए उनके माथे पर टीका लगाता, उनके गले में माला डालता और स्त्रियाँ उनकी आरती उतारतीं और शुभ-सूचक नारियल उनके हाथ में रख देतीं। हमारा पहला पड़ाव जिस गाँव में था उसका स्वागतकारी दल तो बहुत ही बड़ा था और काफी पहले अभ्यर्थना के लिये आ पहुँचा था। तब तक बापू के माथे पर एक के ऊपर एक कितने ही टीके लग चुके थे, उनके गले में कितनी ही मालाएँ पड़ चुकी थीं, कितने ही नारियल उनकी भेंट हो चुके थे!

सारी यात्रा में बापू का इसी प्रकार का स्वागत होता रहा।

पहले पड़ाव पर पहुँच कर हम लोगोंने तालाव में स्नान किया और भोजन करके आराम करने के लिये लेट गये। हम लोगों के पीछे बैलगाड़ियों में लद कर चर्खे भी आये थे, और तीसरे पहर हम लोगों ने सूत भी काता। भोजन हमको दोनों ही वक्त बना बनाया मिल जाता था यही गनीमत थी, नहीं तो पैदल यात्रा की थकावट के वाद उनका वोझ वहुत ही खल जाता।

किन्तु, वापू के लिये विश्राम एकदम ही नहीं था। पड़ाव पर पहुँचते ही उस गाँव के कार्यकर्त्ताओं के साथ वे वहाँ की समस्याओं पर बात करते और वाद को सार्वजनिक सभा में भाषण देते। हम लोगों को छ:-सात घण्टे से अधिक ही रोज सोने को मिल जाता था, पर बापू शायद ही कभी चार-पाँच घंटे से अधिक सो पाते थे।

बापू की पत्नि-भक्ति

(डा० सुशीलानायर)

बापू रात में कई बार बा के पास आते थे। बा उन्हें ज्यादा देर तक बैठने नहीं देती थीं। दिन में भी बापू काफी देर तक बा की खाट पर बैठते थे। बा खाट का सहारा लेने के बदले हम लोगों में से किसीका सहारा लेकर बैठना ज्यादा पसन्द करती थीं। जब बापूजी उनके पास बैठते तो उनका सहारा लेतीं। डॉ० गिल्डर ने मुझसे कहा—"जरा ध्यान रखना चाहिये। निमोनिया के जन्तु काफी जहरीले होते हैं। बापू का मुँह बा के मुँह के बहुत नजदीक रहता है। यह अच्छा नहीं है। उन्हें बा के पास जरा कम ही बैठने देना अच्छा होगा।" लेकिन इस बारे में बापूजी से कुछ कहना आसान न था।

कमजोरी बढ़ जाने के कारण बा जब-जब भी थूकती थीं, तब-तब पास बैठी नर्स को उनका मुँह पोछना पड़ता था। हम लोग कपड़ों के टुकड़ों से मुँह पोंछकर उन्हें फेंक देते थे। बा की मृत्यु से तीन-चार दिन पहले बापूजी रात को उनके पास आये। उस समय उन्होंने हमसे कुछ छोटे-छोटे नये रूमाल बना लेने को कहा। दूसरे दिन मैंने और मनु ने चार रूमाल बनाये। बापूजी जब रात में या दिन में बा के पास से गुजरते, तो मैले रूमाल उठाकर धोने को ले जाते। पहले दिन मैंने कहा— 'बापू-जी आप रहने दें। हम धो लेंगे।" बापू ने जवाब दिया—"मुझे

करने दो। मुझे यह सब करना अच्छा लगता है।" उस दिन के बाद फिर मैंने कभी बापूजी से बा की सेवा का काम नहीं माँगा।

इसी तरह एक दिन दुपहर को खाने के बाद बापूजी बा के पास जाकर बैठ गये। बा सोने की तैयारी में थीं। अगर वे बापूजी का सहारा लेकर सो जाती हैं, तो फिर जब तक जागें नहीं बापू उठ नहीं सकते थे। बापूजी का अपना भी वही सोने का समय था। वे काफी थके हुए भी थे। मैंने कहा—"बापूजी, अभी आप मुझे बा के पास बैठने दें। सो लेने के बाद आप जाइये।" बापूजी चले तो गये। मगर अपनी गद्दी पर जाकर कहने लगे—"मुझे थोड़ी देर बैठने और दिया होता, तो क्या बिगड़ता?" मैंने बताया कि क्यों मुझे उनको उस समय बा के पास से उठने की सूचना करनी पड़ी थी। लेकिन बात खुद मुझको ही अखरी। भले कुछ दिन के लिये बापू का आराम कम हो, लेकिन जिस काम से उनके मन को शान्ति मिलती, उससे मैं बाधा क्यों डालूँ? बा का यह अन्तिम समय था। ऐसे समय उन्हें निमोनिया हो या और कुछ, किसको हिम्मत चल सकती थी कि वह बापू से कहे कि वे बा के नजदीक कम बैठा करें? जिस पर डॉ० गिल्डर बोले "बापू चाहे बैठें, मगर मुँह बा के मुँह के पास न रक्खें।" लेकिन उस वक्त तो उनसे इतना कहने की भी किसीकी हिम्मत न थी। बापू तो छूत वगैरह को बहुत मानते भी नहीं। इसलिये चुप रहना ही

मुनासिब समझा। डॉ० साहब भी समझ गये। बोले—"हाँ, ठीक है। एक साथ ६२ वर्ष बिताने के बाद आज जुदाई की घड़ी को सामने देखते हुए बापू किस तरह बा से दूर रह सकते हैं, कैसे हम इस विषय में इनसे कुछ कह सकते हैं?" कहते-कहते उनकी आँखें सजल हो आईं।

अपनी अन्तिम बीमारी के शुरू होने से कई दिन पहले बा को पाखाने और पेशाब में जलन होती थी। उन्होंने बापूजी से कहा—"मैं तो पानी का इलाज करूँगी।" बापू ने मंजूर किया और दूसरे दिन से ठंढा और गरम 'टब-बाथ' देने लगे। जिसमें बापूजी का करीब एक घंटा चला जाता था। काफी थक भी जाते थे। एक दिन बा ने कहा—"आप जाइये। सुशीला मुझे बाथ दे देगी। आपको बहुत काम है।" बापू बोले—"तुम इसकी फिकर न करो।" और वे बाथ देते रहे। एक दिन मैं ने भी कहा—"बापूजी, आपको वक्त की इतनी ज्यादा तंगी रहती है, और मैं तो आप जब कहें तभी बा की सेवा करने के लिये तैयार ही रहती हूँ। इसलिये आप जब चाहें तभी बाथ वगैरह देने का एक घंटा बचा सकते हैं।" बापूजी ने इस तरह घंटा बचाने से इनकार किया। बोले—"तू बा की सेवा करने को तैयार है, सो तो मैं जानता हूँ। लेकिन उत्तरावस्था में ईश्वर ने मुझे इस तरह बा की सेवा करने का यह जो अवसर दिया है, उसे मैं अमूल्य मानता हूँ। जब तक बा मेरी सेवा लेगी, मैं खुशी-खुशी उसके लिये एक घंटा निकालता रहूँगा।"

बा की मृत्यु के दो तीन दिन पहले ही बापू इस बात की चर्चा कर रहे थे कि बा किसकी गोद में आखिरी साँस लेगी ! उन्होंने कहा था—"किस भाग्यशाली की सेवा इतनी इकनिष्ठ होगी की बा उसकी गोद में देह छोड़े ? इसे तो एक भगवान् ही जानता है।" और यह भाग्य उनके सिवा दूसरे किसका हो सकता था ?

अंतिम रात

शाम को ६॥ बजे के करीब देवदासभाई, मनु (हरिलालभाई की लड़की) और संतोक बहन आ पहुँचीं। बा उनसे मिलकर रो पड़ीं। हरिलालभाई पर उनका रोष अभी तक बना हुआ था। देवदासभाई को देखकर बोलीं—"अब तू सबको सँभालना। बापू जी तो साधु हैं। उन्हें तो सारी दुनिया की चिन्ता है। हरिलाल को तो तू जानता ही है। इसलिये अब परिवार तुझ को ही सँभलना है।"

मनु ने बा को भजन सुनाये। बा की इच्छा थी कि संतोक-बहन और मनु रात उनके पास रहें। मगर सरकार ने इजाजत नहीं दी। देवदासभाई को रहने की इजाजत थी। वे इन लोगों को छोड़ने बाहर गये। बा मेरी गोद में सो गई। मगर आज की नींद से मुझे खुशी नहीं थी। पेशाब न उतरने के कारण अब नशा-शा रहने लगा था। यह नींद ताजगी रहनेवाली नींद न थी। रात साढ़े ग्यारह बजे मैं उठी। प्रभावती बहन बा के पास आकर बैठीं। बा ने उनसे कहा—"चलो हम दोनों सो

जायँ। इतने में उन्हें जोर की खाँसी आई। मैं दवा की खुराक लेकर बा के पास पहुँची। बा ने दवा तो नहीं ली, लेकिन मुझे खाट के पास से बदबू आई। बत्ती जलाकर देखा, तो खाट में दस्त हो गया था। बा को इसका पता भी न था। मुझे लगा, यह जाने की तैयारी है। खाट के कपड़े बदले और बा को लिटाया। इतने में देवदासभाई आ गये। वे खड़े पैरों बा की चाकरी में लग गये। मैं बत्ती के पास जमीन पर बैठकर बा के स्वास्थ्य की डायरी लिखने लगी। देवदासभाई धीरे-धीरे बा का सिर दबा रहे थे। उन्होंने समझा कि बा सो गई हैं, सो दबाना बन्द कर दिया। बा ने मुझे पुकारा—"सुशीला, तू भी थक गई क्या?" मैंने कहा—"बा, मैं क्यों थकने लगी?" और मैंने सिर दबाना शुरू कर दिया। बा के सिर में दर्द हो रहा था। चक्कर आ रहे थे। विचारों में कुछ स्पष्टता आ गई थी। 'यूरीमिया' के चिह्न प्रकट होने लगे थे। दो बजे बा सो गईं। पौने तीन बजे मैं सोने के लिये उठी। देवदासभाई पाँच बजे तक बा के पास खड़े रहे थे। उनके चेहरे से करुणा और प्रेम टपक रहा था। इस आशंका से कि माँ जाने की तैयारी में हैं, उनका दिल बालक की तरह रो रहा। वहाँ खड़े हुए वे माँ के प्रति पुत्र के प्रेम की मूर्ति से दिखाई पड़ते थे।

२२ फरवरी १९४४

तारीख २२ को सुबह ७ बजे मैं उठकर भीतर आई। मुँह-हाथ धो रही थी, कि बा ने पुकारा—"सुशीला!"

मैंने पास जाकर पूछा—"क्या है बा?"

बा बोलीं—"सुशीला, मुझे घरमें ले चल। मेरी सार-सँभाल कर।"

मैंने उनकी खाट के पास ही लटकता हुआ 'हे राम' का चित्र उन्हें दिखाया और कहा—"बा, आप तो घर ही में हैं। यह देखिये, यह रहा आपका प्यारा चित्र!"

कुछ देर बाद बा फिर बोलीं—"मुझे घरमें ले चल। बापूजी के कमरे में ले चल।"

मैंने कहा—"लेकिन बा आप तो बापूजी के कमरे में ही हैं।" फिर मुझे खयाल आया कि शायद बा बापूजी को बुलाना चाहती हैं। वे पास के कमरे में नाश्ता कर रहे थे। मैंने उन्हें कहलवाया कि घूमने जाने से पहले जरा बा के पास हो जायँ।

बा मेरी गोद में पड़ी थीं। एकाएक बोल उठीं—"सुशीला, कहाँ जायँगे? क्या मर जायँगे?" पहले जब कभी बा ऐसी बातें करतीं, तो मैं उनसे कहती थी—"बा, आप ऐसा क्यों कहती हैं? हम सब साथ ही घर जायँगे।" लेकिन आज ऐसा कुछ कहने की हिम्मत न हुई। मैंने कहा—"बा, एक दिन तो हम सबको मरना ही है न! आगे पीछे सबको जाना है। इसमें है क्या?" बा ने सिर हिलाया, मानो 'हाँ' कहती हों। फिर शान्त होकर आँखें बन्द कर लीं और मेरे सहारे आधी लेट-सी गईं।

कुछ देर बाद बापूजी आ पहुँचे। थोड़ी देर बा के पास ख

रहे और फिर बोले—"अब मैं घूमने जाऊँ ?" हमेशा जब बापू बा के पास बैठना चाहते थे, तब बा कहती थीं, 'नहीं, आप घूमने जाइये' या कहतीं, 'सो जाइये।' लेकिन आज बापूजी ने घूमने जाने को पूछा, तो बा ने मना किया। बापू उनके पास खाट पर बैठ गये। बा उनकी छाती पर सिर रक्खे, उनका सहारा लिये, आँख बन्द करके पड़ी थीं। उस समय दोनों के चेहरों पर अपूर्व शान्ति और संतोष दिखाई दे रहा। वह दृश्य इतना पवित्र और इतना दिव्य था कि हम लोग दूर से ही देखकर दबे पाँव पीछे हट गये। बापूजी दस बजे तक वहीं बैठे रहे। बीच-बीच में बा को रामनाम का सहारा लेने के लिये कहते थे। उन्हें खाँसी वग़ैरह आती, तो उनको सहलाते थे।

भाई, मैं और देवदासभाई खाने के कमरे में बैठे बातें कर रहे थे। देवदासभाई ने कहा कि एक सरकारी अफ़सर ने उन्हें साफ़-साफ़ बताया था कि सरकार बा को क्यों नहीं छोड़ रही है। उसने कहा—"अगर हम उन्हें छोड़ते हैं, और बाहर आने पर उनकी हालत ज़्यादा गंभीर होती है, तो लोग तुम्हारे पिताजी को छोड़ने की माँग करेंगे और उस वक्त हमने उन्हें न छोड़ा तो हमें राक्षस कहेंगे।"

दस बजे बा ने बापूजी को जाने की इजाजत दी। उनकी जगह मैं बैठ गई। अकेली बैठी थी। मनमें ख़याल आया—"बा से अपनी जाने-अजाने की सब भूलों के लिये क्षमा तो माँग लूँ।" मगर बोलने की कोशिश करने पर गला रुँध गया और

मुँह से शब्द न निकला। सुबह सात बजे बा ने कहा था—"क्या मर जायँगे ?" उन्हें फिर से इस विचार की याद दिलाना भी मुझे ठीक नहीं मालूम हुआ। बीच-बीच में बा कुछ ग़ाफ़िल हो जाती थीं। आज पहला ही दिन था कि उन्होंने दतौन वग़ैरह नहीं किया था। मैंने 'बोरो ग्लिसरीन' से मुँह साफ़ करनेके लिये पूछा, तो उन्होंने मना कर दिया।

पेनिसिलिन कलकत्ते से हवाई जहाज में भेजी गई थी। कर्नल शाह और कर्नल भंडारी खबर लाये कि पेनिसिलिन आ गई है। बापूजी ने तो सब दवा ही बन्द करवा रक्खी थी। बा को भी दवा लेने की कोई इच्छा नहीं थी। ऐसी हालत में सवाल यह था कि किया क्या जाय ? देवदासभाई चाहते थे कि पेनिसिलिन का उपयोग किया जाय। डॉ० गिल्डर से और मुझसे इस बारे में बातें करके वे बाहर किसी मिलिटरी डॉक्टर से चर्चा करने जा रहे थे। डॉक्टर दीनशा मेहता उनके साथ जानेवाले थे। इतने में बा ने पुकारा—"मेहता कहाँ हैं ? मेरी मालिश वग़ैरह करें !" डॉ० दीनशा अभी सीढ़ी पर ही थे। उन्हें बुलाया गया। ऐसी हालत में बा की मालिश करने का कोई उत्साह उनमें न था, मगर बा का आग्रह देखकर १५ मिनट तक पाउडर से थोड़ी मालिश कर दी और फिर चले गये। बा आधी बेहोशी की हालत में मेरी गोद में पड़ी थीं। कुछ देर के बाद फिर बोलीं—"मेहता कहाँ हैं ? वे सब करेंगे।" अपने अंतिम समय में बा का इस तरह डॉ० मेहता को याद करना, उनके

प्रति बा की श्रद्धाका एक प्रमाण था। मैंने गीले कपड़े से बा का मुँह वगैरह साफ कर दिया। इतने में कर्नल भंडारी आये। देवदासभाई ने बा का फोटो लेने की इजाजत माँगी थी। कर्नल भंडारी यह जानने आये थे कि इस बारे में बापूजी की क्या इच्छा थी। बापूजी ने कहा—"मुझे तो इन चीजों की परवाह नहीं है। मगर लड़के और रिश्तेदार वगैरह चाहते हैं, तो सरकार को इजाज़त देनी चाहिये।"

प्रभावती बहन को बा के पास बैठाकर मैं स्नान करने गई। मेरी गैरहाजिरी में डॉक्टर गिल्डर बा के पास थे। बा की नाड़ी बहुत अनियमित चल रही थी। कभी बिलकुल गायब हो जाती और कभी फिर चलने लगती। कल रात से बीच-बीच में नाड़ी की यही हालत हो रही थी। सबको लगता था कि अब बात दिनों की नहीं, घंटों की ही है। बापूजी ने मुझसे कहा था—"तुझे ज्यादा नहीं, तो कम-से-कम १५ मिनट तो घूम ही आना चाहिये।" इसलिये नहाने के बाद मैं १५ मिनट घूमने निकल गई। घूमते समय मैं प्रार्थना कर रही थी—

'मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥"

आज हृदय से बार बार यही श्लोक निकल रहा था। क्या वह माधव अब भी बा को बचा नहीं सकता? लेकिन मनुष्य की अपेक्षा भगवान् ही अधिक अच्छी तरह जानता है कि मनुष्य के लिये क्या अच्छा है और क्या नहीं! और वह वैसा ही करता

है। फिर वा को किसी-न-किसी रोज़ तो जाना ही है न ? स्वतंत्रता के अहिंसक युद्ध में जेल के अन्दर मृत्यु पाना और स्वतंत्रता की वेदी पर बलि होकर शहीद बनना विरलों के ही नसीब में होता है। वा की आजीवन तपस्या के बाद उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त न होता, तो और किसे होता ? भगवान् ने उनको जिस महान् पद के योग्य पाया था, उसे वह मेरे समान मोहग्रस्त व्यक्ति की प्रार्थना के कारण थोड़े ही बदल देनेवाला था ?

इधर कई दिनों से बापू अपनी खुराक में सिर्फ प्रवाही पदार्थ (पतली चीजें) ही लेते थे। उनपर वा की बीमारी का इतना बोझ था कि खाना कम किये बिना वे अपनी तबीयत को ठीक नहीं रख सकते थे। दूसरे, उन दिनों खाने में आध-पौन घंटा खर्च करना उन्हें अखरता था। स्नान के बाद १० मिनट में खाना पूरा करके वे बा के पास आ बैठते थे। एक दफा बैठने के बाद फिर उठने की इच्छा नहीं होती थी। इसलिये आम तौर पर अपने सब कामों से निपटकर ही वे वा के पास आते थे। जब मैं वापस आई, तो बापूजी बा के पास बैठे थे। एकाएक बा खाट पर सीधी लेट गई। दमे की वजह से इधर महीनों हुए, वे चित सो नहीं पाती थीं। पीठ की तरफ मनुष्य का या खटिया का सहारा लेकर बैठती थीं, या सामने टेबुल पर सिर रख कर पड़ जाती थीं। आज उन्हें अचानक इस तरह लेटते देखकर सब चौंक गये। देवदासभाई को संदेशा भेजा गया। वे लेडी ठाकरसी के घर सोने जाने की

तैयारी कर रहे थे। खबर पाते ही मनु के साथ आ पहुँचे। डॉक्टर दीनसा मेहता भी आ गये। बापूजी ने बा से पूछा—"रामधुन या भजन सुनोगी ?" बा ने इनकार किया। बाद में बापूजी ने पास के कमरे में धीमे स्वर से गीता-पाठ शुरू करवाया। कनु, देवदासभाई, प्यारेलालजी वगैरह सब बारी-बारी से गीता-पाठ करने लगे, ताकि बा के कानों में गीताजी की ध्वनि रह जाय।

रात से ही बा को कुछ निगलने में कष्ट होता था। पानी पीने की भी इच्छा नहीं होती थी। दोपहर को देवदास भाई गंगा-जल लाये। उसमें तुलसी के टुकड़े डाले। बापूजी ने कहा—"देवदास गंगाजल लाया है।" बा ने मुँह खोल दिया। बापूजी ने चम्मच भरकर डाला। बा झट से पी गईं। उन्होंने फिर मुँह खोला। बापू ने एक चम्मच और डाला। फिर बोले—"अब थोड़ी देर बाद लेना।" बा शान्ति से आँखें बन्द करके लेट गईं। बेचैनी में वे 'हे गंगाजी' भी पुकारती थीं। गंगाजल का पान करके उन्हें अपूर्व शान्ति मिली थी। दूसरे रिश्तेदारों को बा के पास बैठने का मौका देने के लिये बापूजी बा के पास से उठकर नजदीक ही अपनी गद्दी पर जा बैठे। थोड़ी देर में संतोक बहन, केशुभाई और रामी बहन (हरिलालभाई की बड़ी लड़की) आ पहुँचीं। न जाने कहाँ से बा में शक्ति आ गई। वे उठकर इन सबसे बातें करने लगीं। संतोक बहन से कहने लगीं—"देवदास ने मेरे लिये बहुत चक्कर खाये हैं; मेरी बहुत सेवा की है।"

फिर देवदासभाई से बोली—"तूने मेरी बहुत सेवा की है। अब तू सबको सँभालना और अपना कर्त्तव्य पूरा करना।" देवदासभाई ने कहा—"बा, मैंने क्या सेवा की है? मैं तो कल ही रात को आया हूँ। सेवा तो तुम्हारे इन साथियों ने की है।" किन्तु अंतिम समय में देवदासभाई को देखकर बा परम संतुष्ट हुई थीं। उनकी एक रात की सेवा बा के निकट सबसे ज्यादा मूल्यवान थी। देवदासभाई ने कहा—"बा, रामदासभाई आ रहे हैं।" बा बोली—"क्या काम है?" रामदासभाई को तकलीफ देना उन्हें बहुत अखरता था।

बा बापूजी की ओर देखकर कहने लगी—"मेरे मरने का दुःख क्या? मेरी मौत पर तो लड्डू झड़ने चाहिये।" इसके बाद आँखें बन्द करके और हाथ जोड़कर वे ईश्वर से प्रार्थना करने लगीं—"हे भगवन्, ढोर की तरह पेट भर-भरकर खाया है। माफ करना। अब तो तेरी ही भक्ति चाहिये। तेरा ही प्रेम चाहिये।" उनके चेहरे पर अपूर्व शांति थी। उन्होंने उस समय सब मोह-माया छोड़ दी थी। उनकी वृत्ति पूर्णतया सात्विक हो गई थी।

कनु ने बा के कुछ फोटो लिये। सब चाहते थे कि बा के साथ बैठे हुए बापूजी का फोटो लिया जा सके, तो अच्छा हो। मुझसे कहा गया कि मैं बापू को बा के पास बैठाऊँ। मेरे सामने सवाल था कि मैं उनसे कैसे कहूँ। बापूजी को फोटो से चिढ़ है। अचानक कोई उनका फोटो ले ले, तो बात अलग है। मगर फोटो के लिये वे कभी बैठते नहीं।

बापूजी आग्रह करते थे कि सबको थोड़ा-थोड़ा आराम लेना चाहिये। इसकी बिना पर मैंने चार बजे उनसे कहा—"बापूजी, मैं थोड़ा आराम करने जाती हूँ। आप बा का 'चार्ज' लें।" कनु को आशा थी कि जब बापू 'चार्ज' लेकर बा के पास बैठेंगे, तब वह फोटो ले लेगा। मगर बापूजी ने कहा—"चार्ज तो मैं लेता हूँ, पर यहीं बैठे-बैठे। दूसरे सब बा के पास बैठे हैं; उन्हें बैठने दो। बा मुझे बुलावेगी, तब मैं उसके पास चला जाऊँगा।"

साढ़े पाँच बजे कर्नल शाह और कर्नल भंडारी पेनिसिलिन लाये। बापूजी से पूछा। उन्होंने कहा—"डॉ० गिल्डर और सुशीला देना चाहें, तो दीजिये।" डॉ० गिल्डर बापूजी के विचारों को जानते थे। इसके लिये वे पेनिसिलिन देने से झिझकते थे। देवदासभाई से बातें हुईं। दो सवाल सामने थे। एक तो यह कि मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई बा को अब इंजेक्शन देने से क्या फायदा? ईश्वर के भरोसे पड़ी रहने दो और शांति से जाने दो। यह था बापूजी का मत। उसमें काफी सचाई थी। दूसरा यह कि जब तक प्राण हैं, आशा क्यों छोड़ी जाय? प्रयत्न क्यों छोड़ा जाय? यह था साधारण, तटस्थ, डॉक्टरी मत। देवदासभाई दूसरे मत के थे। डॉ० गिल्डर ने उनसे कहा—"आप चाहते हैं, तो हम बा को पेनिसिलिन देने को तैयार हैं।" उन्होंने मुझे इशारा किया और मैंने पिचकारी चालने को रक्खी। इतने में बापूजी ने मुझे देखा और पूछा—

"तुम लोगों ने क्या तय किया है?" मैंने कहा—"पेनिसिलिन देंगे।" बापू ने पूछा—"तुम दोनों मानते हो कि देना चाहिये? इससे फायदा होगा?" इसका उत्तर मैं 'हाँ' में कैसे दे सकती थी? मैंने कहा—"आप डॉक्टर गिल्डर से बात कर लें।"

बा की हालत कुछ अच्छी मालूम होती थी। शायद पेनिसिलिन से फायदा हो; आशा की इस किरण से मेरे मन का बोझ कुछ हल्का हुआ। सुबह से खाना नहीं खाया था। इसलिये मैं खाने गई। करीब-करीब सभी खाने बैठे। बापू ड० गिल्डर को समझाकर देवदासभाई को समझाने गये। ड० गिल्डर ने मुझको कहा—"बापू को पता न था कि कई इंजेक्शन देने होंगे। अब पता चला है, तो पेनिसिलिन देने से मना किया है।" मैंने पिचकारी उठाकर बन्द कर दी। मन में थोड़ी निराशा हुई। साथ ही इस विचार से थोड़ी शान्ति भी हुई कि ऐसी हालत में मुझे बा को सुई नहीं टोचनी पड़ेगी।

बापू देवदासभाई को समझा रहे थे—"तू ईश्वर पर विश्वास क्यों नहीं रखता? मृत्यु-शय्या पर पड़ी माँ को भी दवा क्यों देना चाहता है?" वगैरह। इस चर्चा के कारण उन्हें घूमने जाने में देर हो गई। हर रोज वे ६॥ बजे नीचे घूमने चले जाते थे। उस रोज करीब ७ बज रहे थे। बात पूरी करके वे नीचे जाने के लिये तैयार होने के खयाल से गुसलखाने में आये। इतने में बा बोली—"बापूजी!"

प्रभावती बहन पास बैठी थीं। उन्होंने बापूजी को बुलाया।

वे आकर बा के पास बैठ गये। मगर कनु को फोटो लेने से मना कर दिया।

बा को बहुत बेचैनी थी। दो बार उठकर सीधी बैठीं। फिर लेट गईं। बापूजी ने पूछा—"क्या होता है?" नये देश के किनारे खड़े भोले बालक की तरह उन्होंने अत्यन्त करुण-स्वर से तुतलाते हुए कहा—"कुछ समझ नहीं पड़ता।" मैंने नाड़ी देखी। वह बहुत कमजोर थी। लेकिन दिन में कई दफा कमजोर हो चुकी थी। इसलिये मेरी समझ में नहीं आया कि अब सिर्फ मिनटों का खेल बाकी है। बा के दरवाजे के पास बरामदे में कनु और मैं बात कर रहे थे। "बापूजी ने मना न किया होता, तो कितना अच्छा फोटो मिल सकता था! हमेशा तो कोई बिना बताये फोटो ले लेता, तो बापू रोकते नहीं थे। आज क्यों रोका?" इस समय हम यह नहीं समझ सके थे कि बापूजी के लिये बा के पास की वे अन्तिम घड़ियाँ अत्यन्त पवित्र थीं। फोटो से वे उनकी पवित्रता को कम नहीं करना चाहते थे। बापू ने पेनिसिलिन देनेसे रोका, उसका भी हमें अफसोस हो रहा था।

इतने में बा के भाई माधवदासजी आये। बा ने उन्हें पहचाना, आंखें भर आईं। पर बात नहीं कर सकीं। मैं अन्दर आई, बा ने अन्त-अन्त में उठने की कोशिश की, किन्तु बापूजी ने कहा—"अब तुम पड़ी रहो।" बा ने बापूजी की गोद में सिर डाल दिया। उनकी आँखें पथराने लगीं। उन्होंने दो-चार हिचकियाँ लीं। गले से मौत के समय की घरघराहट भरी आवाज निकलने

लगी। मुँह खुल गया। दो-चार श्वास लिये, और बा की आत्मा इस दुनिया के बन्धन से मुक्त हो गई। बापू ने कहा था—'बा किसकी गोद में देह छोड़ेगी? वह सौभाग्य किसका होगा?' बापूजी के सिवा वह और किसका हो सकता था? उस दिन अचानक घूमने जाने में उन्हें देर न हो गई होती, तो वे अन्तिम समय में बा के पास पहुँच ही न पाते। लेकिन ईश्वर उन्हें बा के प्रति की उनकी वफादारी और भक्ति का फल देना क्यों कर भूलते?

बापूजी ने बा के सिर के नीचे से तकिये निकाल लिये। खाट को भी सीधा किया। मीराबहन ने दोपहर से ही खाट की दिशा उत्तर-दक्षिण कर दी थी। सब लोग रामधुन गाने लगे। मैं जड़ की तरह खड़ी देख रही थी। डाक्टर होते हुए भी, और कई मौतें देखने के बाद भी, किसी मृत्यु को तटस्थता के साथ देखना मैंने अभी नहीं सीखा था।

ठीक ७ बजकर ३५ मिनट पर बा की आत्मा मुक्त हुई। देवदासभाई बा की खाट पर सिर रखकर बालक की तरह 'बा-बा' पुकारते हुए फूट-फूट कर रोने लगे। बापूजी की आँखों के कोनों से भी दो मोती चू पड़े। आखिर बापू उठे। उन्होंने कमरा खाली करने को कहा। जेल के फाटक पर मथुरादासभाई अपने परिवार के साथ खड़े थे। उन्हें अन्तिम दर्शनों के लिये अंदर आने की इजाजत नहीं मिली थी। सरकार को डर था कि बाहर बा की मृत्यु के समाचार पहुँचते ही यहीं कोई दंगा वगैरह

न हो जाय। आखिर बापूजी ने उनके लिये इस शर्त पर अन्दर आने की इजाजत हासिल की कि जब तक सरकार मंजूरी न दे, तब तक हममें से कोई बाहर न जायगा।

बापूजी ने, मैंने, मनु ने और संतोकबहन वगैरह ने मिल कर बा को स्नान कराया। बाल धोकर कंघी की। शव को पोंछकर सूखा किया और बापूजी के हाथ के सूत की जिस साड़ी को बा ने अपनी अंतिम यात्रा में पहनने के लिये सँभाल कर रक्खा था उसमें उसे लपेटा। लेडी ठाकरसी ने गंगाजल में भिगोई हुई एक दूसरी साड़ी भेजी थी, वह बापूजीवाली साड़ी के ऊपर डाली गई। संतोकबहन ने बापूजी के सूत की बनी चूड़ियाँ बा को पहनाईं। गले में तुलसी की कंठी डाली और माथे पर चंदन और कुंकुम का लेप किया।

मनु और कनु ने बापूजीवाले कमरे को, जहाँ बा ने प्राण छोड़े थे, साफ किया। मीराबहन ने शव के लिये चूने का एक लंबा चौरस चौक पूरा और सिर की तरफ सुन्दर ॐ और पैरों के पास सुंदर स्वस्तिक बनाया। बाद में शवको वहाँ लाकर रक्खा गया। मीराबहन ने बा के बालों में फूल सजाये। बा के चेहरे पर मंद मुसकान के साथ-साथ अपूर्व शांति थी। वे सोई हुई मालूम पड़ती थीं। सब ने बैठकर प्रार्थना की। गीताजी का पारायण किया। डेढ़ घंटे में यह सारी विधि पूरी हुई।

शांतिकुमारभाई ने दाह-क्रिया के लिए चंदन की लकड़ी लाने का प्रस्ताव किया। बापू ने इनकार करते हुए कहा—"बा गरीब

की पत्नी थी। गरीब आदमी चंदन कहाँ से लाये ?" हमारे सुपरिंटेंडेंट साहब बोल उठे—"मेरे पास चंदन की लकड़ी है।" बापू ने जवाब दिया—"आप (यानी सरकार) तो जिस चीज का भी चाहें, उपयोग कर सकते हैं। आप से चंदन की लकड़ी लेने में मुझे कोई एतराज हो ही नहीं सकता।" फिर तो एक समूचे चन्दन के झाड़ की लकड़ी वहाँ आ पहुँची।

मृत्यु के बाद तुरन्त ही कर्नल भण्डारी सरकार की तरफ से बापूजी को यह पूछने आये कि शव के अग्निसंस्कार के बारे में उनकी क्या इच्छा है। बापूजी ने तीन रास्ते सुझाये—

१. शव उनके लड़कों और रिश्तेदारों को सौंप दिया जाय। इसका मतलब यह होगा कि सार्वजनिक रीति, से आम जनता के बीच, अग्निसंस्कार की क्रिया की जायगी और सरकार उसमें किसी तरह की दस्तंदाजी नहीं करेगी।

यह न हो सके तो,

२. महादेवभाई की तरह महल के सामने ही अग्निसंस्कार किया जाय और रिश्तेदारों व मित्रों को हाजिर रहने की इजाजत दी जाय।

३. अगर सरकार सिर्फ रिश्तेदारों को ही आने देना चाहती हो, और मित्रों को आने की इजाजत न दे, तो वे चाहेंगे कि कोई भी हाजिर न रहें। जेल के अपने साथियों की मदद से वे अकेले ही अग्निसंस्कार कर लेंगे।

बापू ने खास तौर पर यह विनती की थी कि सरकार जो

कुछ करे, ढंग से करे, ताकि उसमें संघर्ष की कोई गुंजाइश न रहे। यदि अन्त्येष्टि संस्कार आम जनता की उपस्थिति में किया जाय, तो वे इतना कहने को तैयार थे कि सरकार को अशान्ति या उपद्रव का डर रखने की कोई जरूरत नहीं। 'मेरे लड़के वहाँ पर मर जायँगे, मगर कोई उपद्रव नहीं होने देंगे।'

उनसे पूछा गया---"यदि बाहर अग्नि-दाह किया जाय, तो क्या आप खुद वहाँ जाना चाहेंगे ?"

बापू ने जवाब दिया—"नहीं, मेरे लड़के, मित्र और रिश्तेदार सब कर लेंगे। मैं बाहर नहीं जाऊँगा।"

लेकिन सरकार एक बड़े जुलूस का जोखिम उठाने को तैयार न थी। इस बहाने भी लोगों में जागृति आये और जोश पैदा हो, यह सरकार को स्वीकार न था। इसलिये उसने दूसरी शर्त्त मंजूर की और मित्रों व सगे-सम्बन्धियों की हाजिरी में महल के सामने हीअग्निसंस्कार करने की इजाजत दी।

गीतापाठ के समाप्त होने पर यानी रात के कोई ग्यारह बजे, देवदासभाई, मनु और सन्तोकबहन को छोड़कर बाकी सब को बाहर जाने का हुक्म मिला। हम सब बारी-बारी से शव के पास बैठे। सुबह शव के पास ही सबने प्रार्थना की। बापूजी ने शव के सिरहाने ही अपना आसन लगाया था।

२३ फरवरी को सबेरे ७ बजे से लोगों का आना शुरू हो गया। करीब डेढ़ सौ मित्र और सगे-सम्बन्धी आ पहुँचे थे। मनु ने शव की आरती उतारी। और सबों ने शव को प्रणाम किये। फूलों का

एक बड़ा ढेर लग गया था। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, अंग्रेज सभी कौमों के दोस्त हाजिर थे। जिन ब्राह्मणों ने महादेवभाई की क्रिया करवाई थी, वे भी आ पहुँचे थे। सारी क्रिया देवदासभाई के हाथों करवाई गई।

शव को चिता पर रख देने के बाद बापूजी ने एक छोटी-सी प्रार्थना करवाई, जिसमें हिन्दू, ईसाई पारसी, इस्लाम सभी धर्मों की प्रार्थना शामिल थी। देवदासभाई ने आग दी। कुछ ही मिन्टों में ज्वालायें भड़क उठीं। बा ने 'करेंगे या मरेंगे' मंत्र का पूरी तरह पालन करके दिखाया था। अब वे स्वतंत्र थीं। कौन सी सल्तनत अब उन्हें बन्धन में रख सकती थी?

चिता महादेवभाई की समाधि के बाजू में ही रची गई थी। माँ ने सोचा होगा कि बेटे को अकेला छोड़ कर कैसे जाऊँ, इसलिये वे उसके पास ही रह गईं!

शान्तिकुमारभाई ने दिन भर पुत्र की तरह काम करके देवदासभाई का बोझ हलका किया। शव के नीचे की लकड़ियाँ कुछ कम पड़ीं। जलती चिता में ऊपर से लकड़ियाँ डालते समय कनु की पलकें झुलस गईं।

बा के शरीर से पानी बहुत निकला। इसलिये दहन क्रिया शाम को चार बजे पूरी हुई। तब तक बापूजी चिता-स्थान पर ही हाजिर रहे। कई बार मित्रों ने कहा—"आप थक जायँगे।" लेकिन बापू ने वहाँ से हटने से इनकार किया। उन्होंने हँसकर जवाब दिया—"६२ वर्ष के साथी को क्या अब इस तरह

छोड़ सकता हूँ ? इसके लिये तो बा भी माफ न करेगी !" किन्तु इनके हृदय में तीव्र वेदना हो रही थी। वे ज्ञानी थे, मगर साथ ही मनुष्य भी थे। सब के चले जाने के बाद रात को खाट पर पड़े-पड़े कहने लगे—"बा के बिना मैं जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकता। मैं चाहता था कि बा मेरे रहते चली जाय, ताकि मुझे चिन्ता न रहे कि मेरे बाद उसका क्या होगा। लेकिन वह मेरे जीवन का अविभाज्य अंग थी। उसके जाने से जो सूनापन पैदा हो गया है, वह कभी भर नहीं सकता।" फिर कहने लगे—"ईश्वर ने भी मेरी कैसी कसौटी की ? मैं तुम लोगों को पेनिसिलिन देने देता, तो भी वह तो जाने ही वाली थी। लेकिन वैसा करने से ईश्वर के प्रति की मेरी श्रद्धा में न्यूनता आ जाती। मैं देवदास को समझा कर आता ही हूँ, पेनिसिलिन न देने की बात पक्की होती है, और बा चलने की तैयारी कर देती है, यह भी एक योग ही है। और बा मेरी ही गोद में गई, इससे तो मेरे हर्ष का पार न रहा।"

रामदासभाई शामको पहुँच पाये। चिता अभी जल रही थी। देवदासभाई और रामदासभाई को तीन दिन तक महल में रहने की इजाजत मिली। चौथे दिन चिता की राख और फूल इकट्ठा करके वे विदा हुए। नर्सें भी एक-एक करके विदा हो गईं। किसी ने कहा—"बा ने अपने प्राण देकर एक बार जेल का दरवाजा खुलवा ही दिया ! वे त्यागमूर्ति थीं। अपना जीवन देकर उन्होंने इतने लोगों को बापू के दर्शनों का सुवर्ण अवसर प्रदान किया !"

बा के चितास्थान पर एक कच्ची समाधि बनाई गई महादेवभाई की समाधि पर छोटे-छोटे शंखोंसे ॐ लिखा गया था। बा की समाधि पर शंखों से 'हे राम' लिखा गया। रोज सुबह-शाम हम सब समाधि की यात्रा करते और फूल चढ़ाते थे। सवेरे गीताजी के बारहवें अध्यायका पाठ किया जाता था। बापूजी ने महादेवभाई की समाधि पर फूलों का क्रॉस (सूली) बनाना शुरू किया था। बा की समाधि पर स्वस्तिक बनाने का निश्चय हुआ। यह कुछ मरे हुओं की मूर्त्तिपूजा नहीं थी; बल्कि उनके गुणों का स्मरण था। उन गुणों के प्रति श्रद्धांजलि थी। ईश्वर से प्रार्थना थी कि उन दो महान् व्यक्तियों के—माँ-बेटे—के गुणों का हम भी अनुसरण कर सकें!

बा की बीमारी के दिनों में बापूजी को बहुत श्रम पहुँचा था। वे काफी दुर्बल हो गये थे। आखिर वे मलेरिया से बीमार पड़े। सरकार नहीं चाहती थी कि आगाखान महल में तीसरी मृत्यु हो। ६ मई को हमारे जेल के फाटक खुल गये और बापूजी और उनके सब साथी रिहा कर दिये गये।

रिहाई से पहले बापूजी ने सरकार को पत्र लिखा कि समाधि का स्थान पवित्र स्थान है; उसका दूसरा कोई उपयोग नहीं होना चाहिये, और लोगों को समाधि के पास जाने की इजाजत होनी चाहिये।

आखिरी दिन सुबह सात बजे हम सब दोनों समाधियों से बिदा लेने गये! पूरे ६३ हफ्ते बापूजी उस जेल में रहे थे। वह

हमारा घर-सा बन गया था, और अपने दो साथियों को वहीं छोड़कर जाना सब को अखरता था। लेकिन वे दो तो देश के और बापू के सच्चे सेवक थे। देश की और बापूकी सेवा में उन्होंने अपने प्राण अर्पण किये थे। और, क्या जेल के दरवाजे खुलवाने में भी उनका हाथ न था? जीवन की तरह मृत्यु में उन दोनों ने बापूजी की अर्थात् देश की ही सेवा की थी। कौन कह सकता है कि आज भी वे दो आत्मायें बापूजी की रक्षा और सेवा नहीं कर रही हैं?